सिद्धयोग

संस्थापक :
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

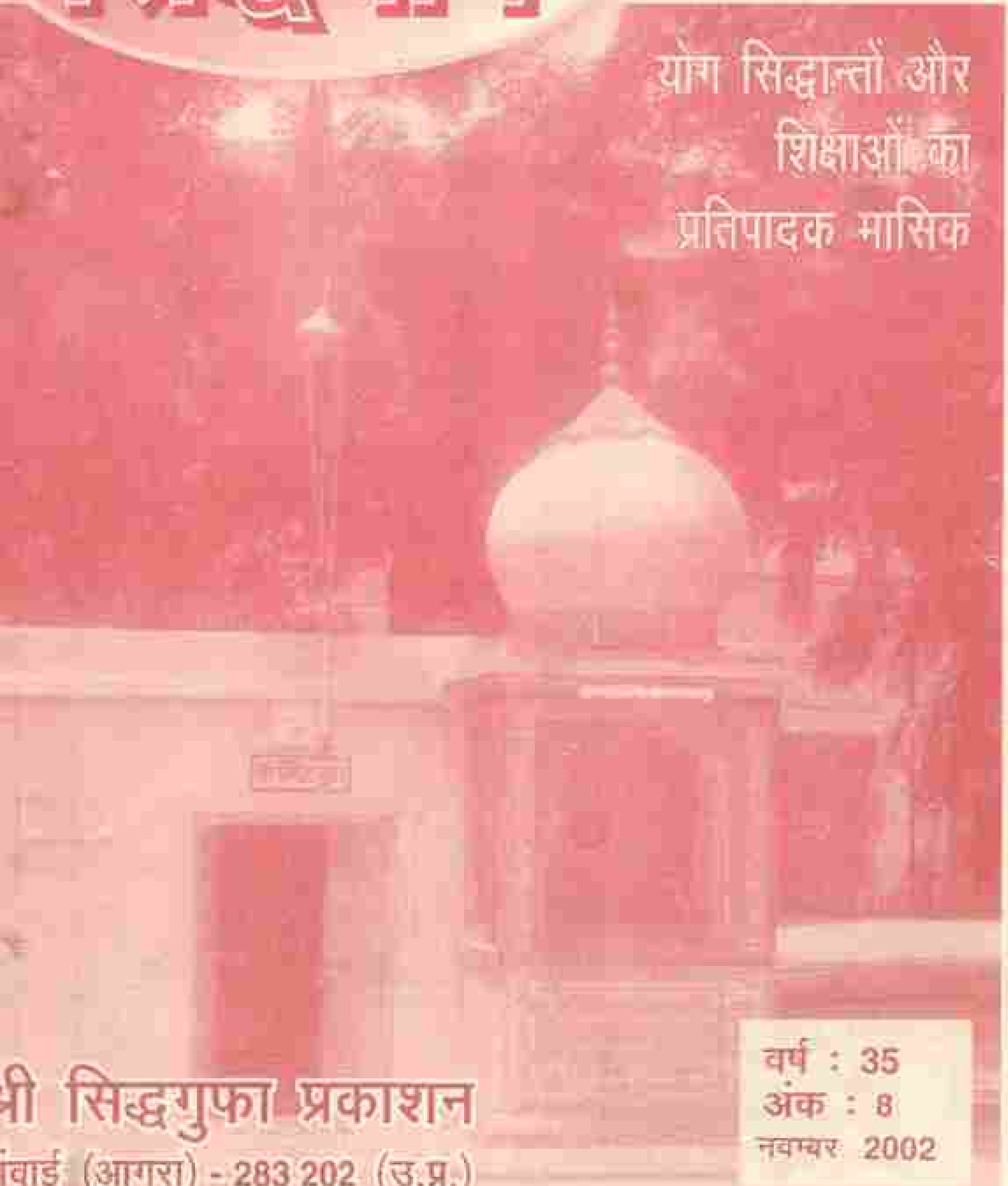

योग सिद्धान्तों और
शिक्षाओं का
प्रतिपादक मासिक

वर्ष : 35
अंक : 8
नवम्बर 2002

ी सिद्धगुफा प्रकाशन
ंवाई (आगरा) - 283 202 (उ.प्र.)

SIDDHYOG
MONTHLY

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
डा० विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार
मण्डलों के अध्यक्ष
एवं
गुरु भाई-बहिन

एक प्रति	रु०	9-00
वार्षिक शुल्क	रु०	90-00
द्विवार्षिक	रु०	170-00
आजीवन	रु०	800-00

इस अंक में

❒ अमृत कण 2
❒ निष्काम कर्मयोग
(विशेष लेख) 3
❒ सम्पादकीय 8
❒ धर्मपथ के सहायक गुरु
संजय शर्मा 10
❒ संस्कार शक्ति व साधना शक्ति
कु० रुक्मिणी वर्मा 13
❒ चित्त पूजन
स्वामी मुक्तानन्दजी 20
❒ श्री गुरुदेव की कृपालीलाएँ
केशवदेव उपाध्याय 23
❒ आध्यात्मिक गुरु
स्वामी विवेकानन्द 26
❒ अष्टांगयोग
पं० श्री सीतारामजी मिश्र 32

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 35
अंक 8

नवम्बर
2[illegible]2

ध्यायं ध्यार्य यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मूख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विषदान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

शंकरं शरणं व्रजामि !

कृत्स्नस्य योऽस्य जगतः सचराचस्य कर्ता
कृतस्य च तथा सुख दुःख दाता।
संसारहेतुरपि यः पुनरन्तकालस्तं
शंकरं शरणदं शरणं व्रजामि।।

भावार्थ

जो इस सम्पूर्ण चराचर-जगत् के कर्त्ता और इसे अपने किये हुए कार्यों के अनुसार सुख-दुख देने वाले हैं, जो संसार की उत्पत्ति के हेतु तथा उसका अन्तकाल भी स्वयं है, सबको शरण देने वाले उन्हीं भगवान शंकर की मैं शरण लेता हूँ।

अमृत कण

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयो।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्यते नो त्रसेत्।।

सुख–दुःख का कर्ता व्यक्ति स्वयं होता है, ऐसा समझकर कल्याणकारी मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिए। फिर भयभीत होने की कोई बात नहीं।

* * *

मृत्योर्बिभेषि किं मूढ भीतं मुञ्चति किं यमः।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि।।

अरे मूर्ख ! क्या तुम मृत्यु से डर रहे हो ? डरे हुए को क्या मृत्यु छोड़ देती है ? ऐसा समझ रहे हो तो यह तुम्हारी मूर्खता है। मृत्यु तो सबको काल का ग्रास बना देती है। वह तो जो जन्म ही नहीं लेता, उसी को नहीं पकड़ती है। इसलिए ऐसा प्रयत्न करो, जिससे पुनः जन्म ही न लेना पड़े।

* * *

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।

अर्थात् न तो आत्मा की कभी उत्पत्ति होती है और न कहीं यह अवरुद्ध किया जा सकता है; न आत्मा कभी बन्धन में पड़ता है और न ही इसे कभी साधना करने की आवश्यकता पड़ती है। न कभी इसे मोक्ष के लिए प्रयत्न करना पड़ता है और न कभी यह मुक्त ही होता है; क्योंकि यह पहले से ही मुक्त है। वास्तव में यही परमार्थिक स्थिति है।

* * *

पुत्रमित्रकलत्रादि सुखं जन्मनि जन्मनि।
मर्त्यत्वं पुरुषत्वं च विवेकश्च न लभ्यते।।

पुत्र–मित्र–कलत्र आदि का सुख जन्म–जन्म में प्राप्त हो सकता है; परन्तु मनुष्यत्व, पुरुषत्व और विवेक की प्राप्ति नहीं होती।

□ विशेष लेख

निष्काम कर्मयोग

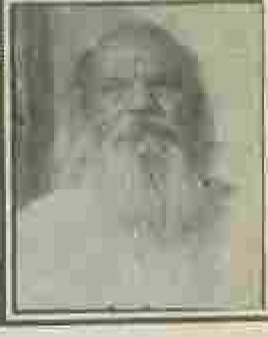

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मनुष्य के जीवन में कर्म–बन्धन एक ऐसा बन्धन है जिसके कारण वह जन्म और मरण के चक्कर में अनन्त काल तक पड़ा रहता है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि–**अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतं कर्म शुभाशुभम्।**

अर्थात् मनुष्य के जीवन में जितने शुभ और अशुभ कर्म होते हैं उनका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। आज वे जिन कर्मों का फल भोग रहे हैं, और यह कर्म फल भोगते हुए जिन–जिन प्राणियों का मेल–मिलाप उससे होता है, यह प्रक्रिया और भी नये–नये कर्मजाल को पैदा कर देती है। यही कारण होता है कि मनुष्य को फल–भोग के लिए यहाँ बार–बार जन्म लेना पड़ता है। तथा यही एक विशेष कारण रहता है कि मनुष्य जन्म–मरण के चक्कर से नहीं निकल पाता। किसी के प्रति भी अच्छा या बुरा किसी भी प्रकार का संस्कार जो बनता है, कालान्तर में वही संस्कार कर्म का रूप धारण कर जन्म का दाता बन जाया करता है और जन्म लेने के बाद फिर जिन प्राणियों के बीच में जन्म लिया है उनका प्रीति–प्यार, राग–द्वेष आदि कर्म समूह को पैदा करके उसके फलस्वरूप बार–बार जन्म लेता और बार–बार मरता रहता है। इससे छुटकारा पाने के लिए वेद भगवान का उपदेश है:–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेत् शतं समाः एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

अर्थात्– मनुष्य को सौ वर्ष के जीवन के अन्दर कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार से कर्मरत रहने पर मनुष्य कर्म–जाल से ऊपर उठ जायेगा और कर्म फल–भोग के लिए उससे लिपायमान (संलग्न) नहीं होगा। प्रकारान्तर से यही बात अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने निष्काम कर्मयोग के रूप में कह डाली है। यदि अखिलात्मा के ही इस उपदेश को मनुष्य अपने जीवन में धारण कर ले तो वह अवश्य ही कर्म–बन्धन से परे हो जायेगा। अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान ने उसे कर्म करने की बार–बार आज्ञा प्रदान की है। वे आदेश देते हैं–

कुरु कर्मैव तस्मात्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्

अर्थात्– हे अर्जुन तू कर्म कर जैसा कि पहले ऋषि–मुनियों ने भी किया है। किन्तु इस पर ध्यान रख कि–

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्तेकर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम् बोद्धव्यम् च विकर्मणः।
अकर्मश्च बोद्धव्यम् गहना कर्मणो गतिः।।
कर्मण्यकर्म यः पश्येद कर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म कृत्।।

अर्थात्– कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है इस बात का निष्कर्ष निकालने के लिए बड़े–बड़े विद्वान भी संशयग्रस्त होकर मोहित हो गये हैं। इसलिए हे अर्जुन मैं तुझे वह कर्म तत्व बतलाता हूँ जिसको जान करके तू सब प्रकार के पापों से छूट जावेगा। तू भली प्रकार से मन लगाकर कर्म को समझ ले। क्योंकि कर्म की गति बहुत ही गहन है। सहज ही जानी नहीं जा सकती। वह मनुष्य बुद्धिमान है जो कर्म के अन्दर अकर्म को देखे और अकर्म के अन्दर कर्म को देखे। जो व्यक्ति इस कर्म सिद्धान्त को समझ लेता है उसके सब कर्म शुभ से शुभतर हो जाते हैं। सब प्रकार की सफलता उसके सामने आने लगती है। कर्म और अकर्म के इस सिद्धान्त को समझ लेना ही बहुत बड़ी बुद्धिमानी की बात है। यह समझ ही तुझे जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा दिला पायेगी।

अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण का यह उपदेश गीता के तीसरे अध्याय में आया है। दूसरे अध्याय के अन्त में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है:

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।

अर्थात्– मनोगत सभी कामनाओं को छोड़ करके जो मनुष्य बिल्कुल इच्छा रहित होकर विचरता है एवं निःरहंकार और निर्मम रहता है वह शाश्वत् शान्ति को पा जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से इस प्रकार के वचन सुनकर अर्जुन के मन में शंका पैदा हो गई क्योंकि अर्जुन उनके पवित्र भावों को नहीं समझ सका था, इसलिए शंकास्पद होकर के उसने बिल्कुल स्पष्ट यह कह डाला–

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिमोंहयसीव मे।
तदेकंवद निश्चित्येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।

अर्थात्– हे अखिलात्मा यदि आप अकर्म को ठीक समझते हैं तो फिर मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हो। इस प्रकार से आप मिले–जुले सिद्धान्तों को बतलाकर मेरी बुद्धि को भ्रमित सी कर रहे हैं। इसलिए निश्चय करके यथार्थतः सिद्धान्त की बात कहो। जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूँ। अर्जुन की यह बात सुनकर भगवान ने अपना मनोभाव समझाने के लिए उसे उत्तर दिया–

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।

अर्थात्– हे अर्जुन! इस संसार में दो प्रकार से इस सिद्धान्त को पहले समझाया गया है। सांख्य शास्त्र का अनुगमन करने वाले लोगों को ज्ञान योग के द्वारा तथा योगियों को कर्म योग के द्वारा। संसार में कैसा भी मनुष्य क्यों न हो वह कर्मों को आरम्भ किये बिना निष्कामता को प्राप्त नहीं कर सकता और जो लोग कर्म मीमांसा को न समझ करके कर्म संन्यास कर बैठते हैं वे लोग सिद्धि को नहीं पा सकते। क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता कि कोई भी मनुष्य जन्म लेकर एक क्षण भी कर्म किये बिना शान्त भाव से बैठा रहे। प्रकृति स्वयं ही उनसे कर्म करवा लेती है। इसके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त को न समझ करके कोई व्यक्ति यदि कर्मेन्द्रियों का संयमन करके इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करता रहता है तो वह भी मिथ्याचारी अर्थात्– दम्भी कहा जाता है और जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों पर मन से नियन्त्रण करके आसक्ति रहित होकर के कर्म करता है वह श्रेय की ओर बढ़ जाता है। इसलिए हे अर्जुन तू शंका छोड़कर के बिल्कुल निश्चित् मन से कर्म कर। क्योंकि कर्म के द्वारा ही निष्कर्मता को मनुष्य प्राप्त होता है।

भगवान ने अर्जुन को एक तात्विकी बात यह बतलाई कि–

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु सः युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।

अर्थात्– जो मनुष्य कर्म के अन्दर अकर्म को देखता है और अकर्म के अन्दर कर्म को देखता है, वही यथार्थता को जानता है वही बुद्धिमान तथा योगी होता है। कर्म के अन्दर अकर्म को देखने का अर्थ मनुष्य नेकी करे और कुँए में उसे डाल दे अर्थात् दान, पुण्य, तप और स्वाध्याय आदि उत्कृष्ट कर्म करे परन्तु इनके फल की इच्छा बिल्कुल न करे। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना। कर्म करते हुए कर्म फल की इच्छा न करना ही अकर्मता है। कर्म कहलाता ही वह है जिसमें मन के अच्छे या बुरे संकल्प जुड़े रहते हैं। मन के अच्छे बुरे संकल्प ही कर्म संविधान के जनियता हैं। यदि कर्म करते हुये मनुष्य के मन में उनकी फल की कोई इच्छा नहीं है तो वह कर्म कर्म नहीं कहलायेगा। वह अकर्म ही होगा। जैसे एक मनुष्य चलते–फिरते उठते–बैठते अपने मुख नासिका तथा हाथ पैर आदि को हिलाता है, किन्तु उसको यह ज्ञान नहीं रहता कि मैंने यह हाथ क्यों हिलाया ? पैर में हरकत क्यों दी ? वैसे यह हरकतें

क्रियात्मक कर्म तो बन ही जाती हैं किन्तु इन हरकतों में अच्छे–बुरे का कोई सम्बन्ध नहीं रहता अतः यह हरकतें क्रियात्मक होने पर भी कर्म नहीं कहलाती। इसी प्रकार से जो मनुष्य बड़े–बड़े दान पुण्यादि कर्म करता है और हरयाणा की लोकोक्ति के अनुसार 'नेकी करो और कुंए में डाल दो' के सिद्धान्त को सामने रखता है तो वास्तव में वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना।

दूसरा विषय है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना अर्थात्– जो मनुष्य कृतकृत्य हो चुका है जिसकी सब वृत्तियों का पूर्ण रूपेण शमन हो चुका है उसे कुछ भी करना अवशेष नहीं है। उसका संसार में कोई भी कर्तव्य शेष नहीं वह कोई कर्म करे या न करे यह उसकी अपनी इच्छा है। योग–दर्शन का सिद्धान्त है कि सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा में जिसको ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट हो जाती है उस पर कोई भी कर्म–लेप लागू नहीं होता। सूत्र है:–

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी।

योग द० १/५०

अर्थात्– ऋतम्भरा प्रज्ञा के आ जाने के बाद केवल मात्र उसके ही संस्कार अवशेष रहते हैं। अन्य सभी संस्कार वहीं रुक जाया करते हैं। इसलिये जो व्यक्ति सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पहुंच जाता है उसकी गति ऐसी हो जाती है कि वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। किन्तु ऐसी स्थिति आ जाने के बाद क्या मनुष्य को सभी कर्म–कलापों का त्याग कर देना चाहिये ? नहीं यह उचित नहीं, उसको पूर्णता प्राप्त होने पर भी लोक–व्यवहार हेतु कर्म करना ही चाहिये। क्योंकि:–

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

अर्थात्– महान पुरुष जैसा–जैसा कर्म करते हैं लोक में इतर लोग वैसा–वैसा ही अनुकरण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने इस विषय में स्वयं अपने आपको उदाहरण रूप से रखा, और कहा:–

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।

अर्थात्– हे अर्जुन ! तीन लोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो किन्तु फिर भी मैं कर्म करता हूँ और बड़ी लगन के साथ करता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य मेरा अनुसरण करते हैं। यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ तो प्रजा के नाश करने का कारण बन जाऊँगा। इसलिए कर्मबन्धन से मुक्त हो जाने के बाद भी लोकाभिनय को सामने रखते हुये मनुष्य को कर्मरत

रहना चाहिये। इसी का नाम है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना। मनुष्य अपने जीवन में कृतकृत्यता को पाकर भी अपने आपको कर्मरत रखे। यही कल्याण का मूल साधन है और सभी लोग इस सिद्धान्त को अपनाकर कर्म करते हुये निष्कर्मता को पा जाया करते हैं। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने बार-बार दोहरा कर इसी सिद्धान्त को कहा है-

पाँचवें अध्याय के आरम्भ में इसी सिद्धान्त को न समझने के कारण भगवान से अर्जुन ने फिर प्रश्न किया:-

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।

अर्थात्- हे अखिलात्मा आप कर्म सन्यास की बात करते हैं और फिर कर्मयोग की पुष्टि करते हैं। अतः इन दोनों में से जो भी श्रेष्ठ है और कल्याणकारी है, निश्चय करके वही सिद्धान्त मुझ से कहें। भगवान ने पुनः और अधिक स्पष्टीकरण के साथ उत्तर दिया-

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।

अर्थात्- हे अर्जुन! कर्म सन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं किन्तु इन दोनों में से कर्म सन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट है। उस व्यक्ति को नित्य ही सन्यासी समझना चाहिये जो न किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु की कामना करता है वह निर्द्वन्द्व रहकर सब प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है।

हे महाबाहो अर्जुन! सांख्य और योग को अज्ञानी बाल-बुद्धि वाले न्यारा-न्यारा कहते हैं। इन दोनों में से किसी एक का भी जो अनुसरण कर लेता है वह दोनों के फल को पा जाता है। किन्तु एक विशेष बात है वह यह कि बिना योग के सन्यास को प्राप्त कर लेना बहुत ही कठिन है और योग युक्त मुनि तत्काल ब्रह्म को पा जाता है।

इस प्रकार से भगवान ने निष्काम कर्मयोग को पूरी तरह से स्पष्टता के साथ समझा दिया। अन्त में निष्कर्म की बात यही आती है

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।

***

योग साधना से ही सुसभ्य एवं स्वस्थ समाज का निर्माण

आचार्य (डा०) दासलाल शर्मा

एक-एक व्यक्ति का मिलित रूप समाज बनता है। हर व्यक्ति सुखी रहे परस्पर प्रेम व सद्भाव से जीवन बिताये इसके लिये स्वस्थ समाज की आवश्यकता पड़ती है। अराजकता में किसी प्रकार की उन्नति नहीं हो सकती। समुन्नत समाज का निर्माण तभी हो सकता है जब समाज में सुसभ्य और श्रेष्ठ व्यक्ति रहते हों। हमारे समाज में यदि अनैतिक अवांछनीय व अपराधी तत्त्व भरे पड़े हों तो समाज की उन्नति नहीं हो सकती।

हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों व आचार्यों ने अपनी प्रज्ञा विवेक से स्मृति व धर्मशास्त्रों का निर्माण करके समाज को सभ्य और सुसंस्कृत बनाया है। मानव के इहलौकिक और पारलौकिक दोनों पक्षों को सुखी बनाने के लिये सभी क्रियाओं में धार्मिकता को जोड़कर अभ्युदय और निःश्रेयस रूप परमफल की प्राप्ति का मार्ग खोल दिया है। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय का विधान बनाया है। इसलिये समाज के हर व्यक्ति को आत्मोत्थान के साथ-साथ समाजोत्थान के विषय में भी सोचना चाहिये। किसी भी देश की सभ्यता व संस्कृति देश की प्राण होती है। वह जितनी सुदृढ़ धर्ममय व आध्यात्मिक होगी वहाँ के लोग उतने ही सुखी व समुन्नत होंगे। जो व्यक्ति धर्माचरण करता है उसके लिये **'धर्मो रक्षति रक्षितः'** की उक्ति चरितार्थ रहती है। धर्मपालन ठीक प्रकार से होने पर ही व्यक्ति योगधर्म में प्रवेश पाने का अधिकारी बनता है। पूज्यपाद गुरुदेव भगवान् ने अपने हर गृहस्थ व विरक्त बच्चों को धर्ममय आचरण का उपदेश दिया है। गृहस्थ बच्चों को समझाते हुये वे कहा करते थे कि पति-पत्नि को परस्पर प्रेम से रहना चाहिये। कभी विवाद व झगड़ा नहीं करना चाहिये। उन्हें एक प्राण दो देही बनकर रहना चाहिये। जहाँ परिवार में पति-पत्नि में प्रेम रहता है वहाँ धन-धान्य व पैसा खूब रहता है। जहाँ नित्य ही क्लेश रहता है वहाँ गरीबी और बीमारियाँ रहती हैं। जिस घर में प्रेम-शान्ति रहती है वह कुल चमक उठता है। इस प्रकार एक-एक परिवार का सुधार हो जाये तो सारा समाज सुधर जायेगा और सभी योगमार्ग पर चलने लग जायेंगे। श्री गुरुदेव ने अपने बच्चों को सदा ही दुःखों से छुड़ाने का प्रयास किया है। महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने अपने संस्कारी बच्चों का कष्ट दूर करने के लिये अवनि मण्डल पर आना स्वीकार किया है। यद्यपि मर्त्यलोक योगियों के रहने की जगह नहीं है। अमृत रूपी महासागर में निमग्न रहने वाले महायोगियों के लिये मृत्युलोक हेय ही है। फिर भी संसार के जीवों की कल्याण कामना से समय-समय पर सद्गुरु रूप बदल कर आया करते हैं। पूज्यपाद गुरुदेव के चरण-शरण में आकर हजारों व्यक्तियों का जीवन बदल गया। दुराचरण और व्यसन के

कुमार्ग को त्यागकर उन्हें गुरुदेव ने सन्मार्ग का पथिक बनाया है। अपने शरण में आने वाले भक्त का शिवरूप गुरुदेव सदा ही कल्याण करते हैं। जीव अपने मिथ्याभिमान, अहंकार एवं अज्ञान के कारण सद्‌गुरु के चरणों से दूर रहा करता है। गुरुदेव का पृथ्वी पर आविर्भाव रहने पर भी संस्कारी पुण्यवान ही श्री चरणों से जुड़ पाते हैं। एक महापुरुष जब पृथ्वी पर अवतरित होता है तो एक नये युग का सृजन हो जाता है। श्री गुरुदेव से शिक्षा–दीक्षा लेने वाले साधकों का भी एक संसार है और उसमें आने वाले व्यक्तियों का भाग्य बदल जाया करता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है– 'गुरुदेव तुम्हारे चरणों में भाग्यों को बदलते देखा है। वस्तुतः महापुरुष बड़े–बड़े भवनों का निर्माण नहीं करते, वे तो नये युग का निर्माण करते हैं। मानव को सही दिशा, उपदेश व शक्ति संचार के द्वारा उसमें नव चेतना का संचार कर उसे 'अमृतपद' की ओर ले जाते हैं। **''सर्वे भवन्तु सुखिनः'** के भाव को हृदय में लिये मानव के उत्थान व कल्याण के लिये प्रकट होकर संसार में रहा करते हैं। योग वास्तव में विज्ञान के साथ–साथ कला भी है। यह जहाँ मनुष्य को अध्यात्म योग का ज्ञान देता है। वहीं साथ–साथ कला द्वारा मनुष्य के व्यवहारिक व सांसारिक जीवन को भी संवारता है। इस कारण से भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी **'योगः कर्मसु कौशलम्'** कहकर इसके उभय पक्ष को सामने रखकर मानव के सर्वांगीण विकास को उज्ज्वल बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। परम गुरुदेव आनन्दकन्द महाप्रभु रामलाल जी महाराज तथा सद्‌गुरु योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने मानव के कल्याण के लिये शरीर धारण कर विश्व को सब प्रकार से उपकृत किया है। उनके आदेशों व उपदेशों पर चलकर ही हम सब अपने लक्ष्य को पा सकेंगे। यद्यपि हम सभी का एकमात्र लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही है और देर–सवेर प्राप्ति होती ही है, किन्तु मोक्ष तक की यात्रा सहज नहीं। इसकी प्राप्ति तक सभी को योगमय जीवन जी कर अनुकूल परिस्थितियाँ निर्माण करने की दिशा में प्रयत्न करना चाहिये। यदि गुरुदेव की कृपा हो जाये तो शिष्य को लक्ष्य प्राप्त करने के लिए क्षणभर का समय पर्याप्त होगा। अतएव साधक को पूर्ण निष्ठा और विश्वास के साथ सद्‌गुरुदेव के दिग्दर्शन को आत्मसात् करना चाहिये। तभी और केवल तभी उसका और उसके चारों ओर अवस्थित समाज का कल्याण सम्भव है।

अजरामरवत प्राज्ञः विद्याम् अर्थ च चिन्तयेत्।
ग्रहीत इव केशषु मृत्युना धर्म आचरेत्।।

विद्या और विभव की खोज में अपने को जरा–मरण से मुक्त समझकर आचरण करो और धर्माचरण में अपनी शिखा काल के हाथों में समझकर तत्पर रहो।

धर्मपथ के सहायक गुरु

प्रस्तोता—संजय शर्मा, आगरा

गुरु कौन है ? एक मात्र ईश्वर ही सारे जगत के गुरु हैं। जो गुरु के बारे में मनुष्य बुद्धि रखता है उसके साधन भजन का क्या फल होगा ? गुरु के बारे में मनुष्य बोध नहीं रखना चाहिये। इष्टदर्शन होने के पहले शिष्य को प्रथम गुरु के दर्शन होते हैं। फिर ये गुरु ही शिष्य को इष्ट देव के दर्शन करा देते हैं। तथा स्वयं धीरे—धीरे उस इष्टरूप में विलीन हो जाते हैं। तब शिष्य गुरु तथा इष्टदेव को अभिन्न एक रूप देखता है। इस अवस्था में शिष्य जो वर माँगता है गुरु उसे वही देते हैं। यहाँ तक कि गुरुदेव उसे सर्वोच्च निर्वाण की अवस्था तक दे सकते है। या अगर शिष्य चाहे तो वह उपास्य उपासकरूपी भाव सम्बन्ध को बनाये रखकर द्वैत अवस्था में ही रह सकता है। वह जैसा चाहे गुरु उसके लिये वैसा ही कर देते हैं।

मनुष्य गुरु कान में मन्त्र फूंकते है परन्तु जगतगुरु प्राणों के मन्त्र जगा देते हैं। गुरु मानों मध्यस्थ है जैसे मध्यस्थ प्रेमी को प्रेमिका से मिलाता है उसी तरह गुरु भी साधक को इष्ट के साथ मिला देता है। गुरु मानो गंगा जी है।

गंगा में लोग कितना कूड़ा कर्कट और गन्दी चीजें डालते है परन्तु इससे उसकी पवित्रता घट नहीं जाती। इसी प्रकार गुरु पर भी निन्दा अपमान आदि बातों का परिणाम नहीं होता।

वैद्य की तरह आचार्य भी तीन प्रकार के होते है। उत्तम मध्यम और अधम ! जो वैद्य आकर सिर्फ रोगी की नाड़ी देख दवा बताकर चला जाता है. रोगी ने दवा ली या नहीं इसकी कोई खबर नहीं लेता वह अधम वैद्य है ! इसी तरह कुछ आचार्य केवल उपदेश दे जाते हैं शिष्य उनका पालन करता है या नही इसकी वे खबर नही रखते। दूसरी श्रेणी के वैद्य रोगी को केवल दवा लेने के लिये कहकर नही चले जाते. परन्तु यदि रोगी दवा नहीं लेना चाहता हो तो उसे दवा लेने के लिए तरह—तरह से समझाते बुझाते हैं ये मध्यम श्रेणी के वैद्य हुए। इसी तरह जो आचार्य शिष्यों के हित के लिए उन्हें बार—बार समझाते हैं जिससे वह उपदेशों की धारणा कर सके और तदनुसार चल सके वे मध्यम श्रेणी के आचार्य है। अन्तिम श्रेणी के और उत्तम वैद्य वे हैं जो, अगर रोगी मीठी बातों से न माने तो बल का भी प्रयोग करते हैं जरूरत पड़ने पर रोगी की छाती पर घुटना रखकर जबरदस्ती दवाई पिला देते हैं। उसी प्रकार उत्तम श्रेणी के आचार्य शिष्य को ईश्वर के पथ पर लाने के लिए आवश्यक हो तो बल तक का प्रयोग करते हैं।

गुरु का प्रयोजन—जिन—जिन के निकट कोई शिक्षा प्राप्त होती हो उन सभी को गुरु न कहकर एक निर्दिष्ट व्यक्ति को ही गुरु कहने की क्या आवश्यकता है ? किसी अनजान जगह जाना हो तो जो रास्ता जानता है ऐसे किसी एक व्यक्ति के निर्देशानुसार ही जाना चाहिए। अनेक लोगों से रास्ता पूछने पर गड़बड़ हो जाती है। वैसे ही ईश्वर के निकट जाना हो तो एक अनुभवी गुरु के निर्देशानुसार चलना चाहिए इसीलिए एक गुरु का प्रयोजन है।

जो खुद शतरंज खेलते है वे बहुत समय नही समझ पाते कि कौन-सी चाल ठीक होगी। परन्तु जो तटस्थ रहकर खेल देखते रहते हैं वे खेलने वालों से अच्छी चाल बता सकते हैं। संसारी लोग सोचते हैं हम बड़े बुद्धिमान हैं; परन्तु वे धन-मान, विषय-सुख आदि में आसक्त रहते हैं, वे स्वयं खेल में डूबे रहते हैं, ठीक चाल नहीं समझ पाते। परन्तु संसार त्यागी साधु महात्मा विषयों से अनासक्त होते हैं; वे संसारियों से अधिक बुद्धिमान होते हैं। वे खुद नही खेलते इसलिए अच्छी चाल बता सकते हैं। इसलिए धर्म जीवन यापन करना हो तो जो साधु महात्मा ईश्वर का ध्यान चिन्तन करते हैं जिन्होंने उन्हें प्राप्त कर लिया है। उन्ही की बातों पर विश्वास रखकर चलना चाहिए। यदि तुम्हें मुकदमें की सलाह चाहिए हो तो तुम वकील की ही सलाह लोगे न कि किसी ऐरे गैरे की।

यदि तुम्हारे भीतर ईश्वर के प्रति ठीक-ठीक अनुराग हो उन्हें जानने की स्पृहा उत्पन्न हो तो अवश्य ही वे तुम्हें सद्गुरु से मिला देंगे। साधक को गुरु के लिए चिन्ता नही करनी पड़ती।

ठीक-ठीक आंतरिकता के साथ व्याकुल प्राणों से यदि कोई उन्हें पुकार सके तो उसके लिए गुरु की आवश्यकता नही होती, परन्तु साधारणतया ऐसी व्याकुलता दिखाई नहीं देती, इसीलिए गुरु की आवश्यकता है। गुरु एक ही होता है परन्तु उपगुरु अनेक हो सकते हैं। जिस किसी के पास कुछ शिक्षा प्राप्त हो वही उपगुरु है; अवधूत के इस प्रकार चौबीस उपगुरु थे।

गुरु शिष्य सम्बन्ध–समुद्र में अनेक प्रकार की सीपी होती है जो स्वाति नक्षत्र की वर्षा की एक बूँद के लिए मुँह बाए पानी पर तैरती रहती है, किन्तु स्वाति की वर्षा का एक बूँद जल मुँह में पड़ते ही वह मुँह बन्द किए सीधे समुद्र की गहरी सतह मे डूब जाती है। तथा वहाँ उस जल बिन्दु से मोती तैयार करती है, इसी तरह यथार्थ मुमुक्षु साधक सद्गुरू की खोज में व्याकुल होकर इधर-उधर भटकता है परन्तु एक बार सद्गुरु के निकट मन्त्र पा जाने के बाद वह साधना के अगाध जल में डूब जाता है। तथा अन्य किसी ओर ध्यान न देते हुए सिद्धिलाभ होने तक साधना में लगा रहता है।

ऐसे (साक्षात्कारी) गुरु यदि पण्डित या शास्त्रज्ञ न भी हों तो घबराने का कारण नहीं। उन्होंने पुस्तकी विद्या भले ही न सीखी हो परन्तु उनमें यथार्थ ज्ञान की कमी नहीं होती। पुस्तक पढ़कर क्या ज्ञान होगा ? ऐसे व्यक्ति के निकट ईश्वरीय ज्ञान का अनन्त भण्डार होता है।

कोई व्यक्ति अपने गुरु के बारे में तर्क वितर्क कर रहा था। श्रीराम कृष्ण ने उससे कहा, तुम फिजूल समय क्यों बरबाद कर रहे हो ? तुम्हें इन सब बातों से क्या मतलब ? तुम्हें मोती चाहिए तो मोती लेकर सीपी को फेंक क्यों नहीं देते ? गुरु ने जो मन्त्र दिया है उसे लेकर डूब जाओ गुरु के गुण दोषों की ओर मत देखो।

कोई तुम्हारे गुरु की निन्दा करता है तो मत सुनो। गुरु माता-पिता से भी बड़े हैं। यदि कोई तुम्हारे सामने तुम्हारे माता-पिता की निन्दा करे तो क्या तुम उसे सहन करोगे ? यदि जरूरत पड़े तो लड़कर भी अपने गुरु की मर्यादा बनाए रखो।

शिष्य को गुरु की निन्दा कभी नही करनी चाहिए। उसे सदा गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए। कहावत है 'यद्यपि मेरा, गुरु कलवार घर जाए, तथापि मेरा गुरु नित्यानन्द राय'। अर्थात् मेरे गुरु यदि शराब भी पीए तो भी वे पवित्र हैं, निर्दोष हैं।

सच्ची भक्ति हो तो सामान्य वस्तुओं से भी ईश्वर का उद्दीपन होकर साधक भाव में विभोर हो जाता है। चैतन्य महाप्रभु की कथा सुनी नहीं ? एक बार किसी गाँव से गुजरते समय चैतन्य देव ने सुना की हरि संकीर्तन में बजने वाला मृदंग इसी गाँव की मिट्टी से बनता है ? सुनते ही वे बोल उठे 'इस मिट्टी से मृदंग बनता है'। और एक दम बाह्य ज्ञान खोकर भाव समाधि में मग्न हो गए। इस मिट्टी से मृदंग बनता है, उस मृदंग को बजाते हुए हरिनाम गाया जाता है। वे हरि सब के प्राणों के प्राण हैं वे सुन्दर के भी सुन्दर हैं। इस तरह के विचार परम्परा एक दम क्षण मात्र में उनके चित्त में खेल गई और उनका चित्त हरि में स्थिर हो गया।

इसी प्रकार जिसमें गुरु के प्रति सच्ची भक्ति होती है उसे गुरु के सगे सम्बन्धियों को देख कर गुरु का ही उद्दीपन होता है। इतना ही नहीं गुरु के गाँव के लोगों को देखने पर भी उसे उस प्रकार की उद्दीपना होती है। और वह उन्हें प्रणाम कर उनकी चरण धूलि ग्रहण करता है उन्हें खिलाता पिलाता है। उनकी सेवा शुश्रूषा करता है।

ऐसी अवस्था होने पर भी गुरु के दोष दिखाई नहीं देते। इसी अवस्था में यह कहा जा सकता है कि 'यद्यपि मेरा गुरु कलवार घर जाय तथापि मेरा गुरु नित्यानन्द राय'। अन्यथा मनुष्य में कुछ न कुछ दोष तो रहेंगे ही—केवल गुण ही गुण नहीं रह सकते। परन्तु अपनी भक्ति के कारण वह शिष्य गुरु को मनुष्य की दृष्टि से नहीं देखता वह उन्हें भगवान के रूप में ही देखता है। जिस प्रकार पीलिया हो जाने पर सब कुछ पीला ही पीला दिखाई पड़ता है उसी प्रकार उस शिष्य को भी सब ईश्वर मय ही दिखाई देता है। उसकी भक्ति ही उसे दिखा देती है कि ईश्वर ही सब कुछ हैं वे ही गुरु पिता—माता मनुष्य पशु जड़ चेतन सब कुछ बने हैं।

❊❊❊

मनुष्य कर्म करता चला जाये और अपने को योग ध्यान परायण बनाये रखे तो वह निष्काम कर्म की ओर बढ़ जाता है। वेद भगवान की आज्ञा है—कुर्वन्नैवेह कर्माणि जिजिविसेत् शंत समाः। अर्थात् मनुष्य कर्म करता हुआ सौ वर्ष की आयु तक जीने की इच्छा करे।

—योगीराज चन्द्रमोहन जी महाराज

संस्कार शक्ति व साधना शक्ति

—कु० रुक्मिणी वर्मा, सहारनपुर

पूर्व प्रकरण में योग साधक का वैराग्य पल्लवित न होना तथा वैराग्य में बाधक संस्कार शक्ति का विक्षेप होना बताया गया था। संस्कार पूर्व जन्म की कर्मावस्था है, संस्कार कर्म के बाद की उत्पत्ति है, यह कर्म और फल के बीच की एक कड़ी है जिसे दार्शनिकों ने अदृष्ट की मान्यता दी है। अदृष्ट का नियामक ईश्वर है। अतः वह (परमात्म) अदृष्ट (संस्कार) के आधार पर फल का विधान करता है। संस्कार चित्त में सुरक्षित रहता है और फल भुगतान के साथ-साथ क्षीण होकर स्वयं नष्ट हो जाता है। संस्कार के कारण मानव का स्वभाव निर्मित होता है और अधिकांश नवीन कर्म चित्त में पड़े संस्कारों से प्रेरित होते हैं। अतः कर्म से संस्कार व संस्कार से कर्म की श्रृंखला चलती रहती है यदि संस्कार को काटने के लिए तत्सम्बन्धी विरुद्ध संस्कार उत्पन्न न किये जाये। काय संस्कार, मनः संस्कार तथा वाक् संस्कार ये तीन प्रकार के संस्कार दार्शनिकों को मान्य है तथा संस्कार इस प्रकार से प्रेरित होते हैं जिनका वर्णन भी पूर्व प्रकरण में किया गया था। महाराजा रणजीत सिंह के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया था कि किस प्रकार अन्य चित्त के संस्कार स्वयं के चित्त में प्रवेश करते हैं। अब आगे..

गुणैरुत्तमतां याति नोच्चैरासन संस्थितः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते।।

चा० नीति दर्पण १६/६।।

अर्थात् मनुष्य अपने श्रेष्ठ गुणों, सदाचार, शील और चरित्र द्वारा उत्तम होता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नहीं। किसी बड़े भगवान के शिखर पर बैठने से ही कौआ गरुड़ नहीं हो जाता।

श्रेष्ठ मनुष्य के जो श्रेष्ठ लक्षण होते हैं, उसके स्वभाव व व्यवहार से ज्ञात हो जाते हैं और मनुष्य का व्यवहार उसके संस्कारों से प्रेरित होता है क्योंकि किये गये कर्मों के संस्कार चित्त में सुप्त अवस्था में सोये रहते हैं और जब-जब हम जैसे-जैसे वातावरण में रहते हैं, तब-तब वैसे-वैसे संस्कार जाग उठते हैं। इसीलिए अच्छी संगति में रहने और बुरी संगति से बचने की राय हमारे आर्य धर्म ग्रन्थ देते हैं। क्योंकि हम जैसी संगति व वातावरण में रहते हैं उसका हमारे अन्तर्मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि मन की गहराई में जो संस्कार दबे हुए होते हैं वे प्रकट हो जाते हैं। इसलिए पुराने संस्कार उभर कर हमारा वर्तमान न बिगाड़े इसके लिए जरूरी है कि बुरी संगति न ही करें, दूषित वातावरण से परहेज करें क्योंकि—

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्। (हितोपदेश)

नीति में कहा गया है कि कीचड़ में पैर डालकर फिर उसे धोने से अच्छा है पैर कीचड़ में डाला ही ना जाये। Prevention is better than cure. अर्थात् इलाज कराने से रोग का बचाव करना अधिक उत्तम है।

अतः हमें जन्म से ही अच्छे संस्कार अपने अन्दर विकसित कर लेने चाहिये। परन्तु जैसा

कि पूर्व प्रकाशित अंक में बताया गया था कि मनुष्य के संस्कार दस प्रकार से विकसित होकर सामने आते हैं और उसमें पहला संस्कार है गर्भ का संस्कार। कोई भी बच्चा गर्भ में स्वतन्त्र नहीं होता। अतः वह उस समय कर्म नहीं कर सकता। इसलिए उसकी माता के द्वारा किये कर्म जनित संस्कार उसे धरोहर रूप में मिलते हैं। जैसा माता-पिता का कर्म व्यवहार होता है उसकी अमिट छाप बच्चे के मन पर पड़ती है। पिता की वह धातु तत्त्व जिसमें सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति होती है उस एक शुक्राणु में एक बच्चे के शरीर को जन्म देने की क्षमता होती है। अर्थात् प्रत्येक शुक्राणु एक शरीर ही है भले ही बीज रूप में है। इस बीज में पूरा व्यक्तित्व विद्यमान रहता है। जिस प्रकार आम की गुठली को बीच से खोलकर देखा जाये तो उसमें न कोई जड़ है, न तना, पत्तियाँ, फूल-फल आदि। यदि आम की गुठली को उचित खाद-मिट्टी में बोया जाय तो पूरा वृक्ष फल-फूलकर तैयार हो जाता है। अब सोचने की बात है कि उस बीज (गुठली) में से आम का वृक्ष कहाँ से आया ? एक वृक्ष उसकी जड़, पत्ती, फूल व फल की सम्पूर्ण ताकत अथवा गुण उसके बीज में अदृश्य रूप से विद्यमान रहते हैं। जब बीज यथाविधि उचित संरक्षण व भोज्य प्राप्त करता है तो एक वृक्ष अपने अन्दर से प्रकट कर स्थूल रूप में प्रकृति में दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार एक शुक्राणु एक शरीर (मन, बुद्धि, चित्त, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ आदि) प्रकट करता है। अतः जो सन्तान उत्पन्न होती है, उसके चित्त में पिता-माता का चित्त व गुण-धर्म स्वाभाविक ही होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। जैसा कि कहा भी गया है: "माँ पर धी (पुत्री), पिता पर घोड़ा (पुत्र) ज्यादा नहीं तो थोड़ा-थोड़ा।" अतः यह बात पूर्णतया सत्य है कि बच्चे के गुण दोषों में उसके माता-पिता के गुण दोष भी निहित होते हैं। केवल यह बात माता-पिता तक ही सीमित नहीं, दादा-दादी, परदादा-परदादी तथा इससे आगे के पूर्वजों के गुण-दोष वर्तमान जन्मजात सन्तान में पाये जाते हैं। इसलिए हिन्दू धर्म में जब विवाह होता है तो वर पक्ष व वधु पक्ष के माता-पिता एक दूसरे के खानदान (कुल) की परख कर लेते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि जो वधु इस कुल में आयेगी उसके द्वारा उत्पन्न हुई सन्तान में इस प्रकार के दोष न आ जायें जो कुल घातक या समाज में विद्रोह पैदा करने वाले अथवा राक्षसी प्रवृत्ति से युक्त हों। दोष युक्त सन्तान कुल-परिवार की शांति भंग करने में तथा कुल को नीचा दिखाने में कोई कसर नहीं छोड़ती। अतः खानदान की परख एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है। इस विषय में एक दन्तकथा मुझे स्मरण हो रही है, जिसके द्वारा इस विषय को समझाने में सरलता होगी।

एक सेठ जी के यहाँ चार पुत्र थे। सेठ जी बहुत धनाढ्य थे उन्होंने परिश्रम करके अपार सम्पत्ति हासिल की थी। तीन पुत्रों की शादी सेठ जी ने उच्च खानदान देखकर कर दी परन्तु चौथे पुत्र का किसी युवती से प्रेम हो गया। जब-जब सेठजी विवाह की बात चलाते तो कनिष्ठ पुत्र इन्कार कर देता। काफी कहने-सुनने के बाद पुत्र ने कहा कि यदि मेरी शादी होगी तो अमुक लड़की से अन्यथा नहीं। जब सेठजी ने उस कन्या का पूरा पता ले लिया तो उसके

खानदान के विषय में खोज की। खोज करने पर पता चला कि कन्या की नानी कुएं में डूबकर मर गयी थी। सेठजी ने कहा कि हम तुम्हारी शादी उस घर में नहीं कर सकते क्योंकि उनके खानदान में दोष है। लड़के ने पूछा कि क्या दोष है ? पिताजी ने उत्तर दिया कि उस लड़की की नानी कुएँ में डूबकर मर गयी थी। पुत्र ने कहा कि हे पिता नानी की बात नानी के साथ थी। मैंने इस लड़की को खूब परख लिया, इसमें तो कोई दोष नहीं है। अतः विवाह करूँगा तो इसी लड़की से अन्यथा अविवाहित ही रहूँगा। पिता भी जिद पर अड़ गये और पुत्र भी। परन्तु होनहार बलवान है, वह लड़का प्रेम रोग से पीड़ित होकर बीमार रहने लगा। इलाज कराने पर भी ठीक न हुआ। दिनों-दिन चेहरा पीला पड़ता गया। आखिर में पिता को निर्णय बदलना पड़ा और पुत्र की शादी उसी लड़की से करनी पड़ी। पाँच-छः वर्ष आराम से गुजरे परन्तु शनैः शनैः सेठजी को व्यापार में घाटा पड़ने लगा। जब सेठजी ने देखा कि जमा पूँजी भी निपटती जा रही है तो चारों पुत्रों को बुलाकर सलाह ली कि क्यूं न हम दूसरा व्यापार शुरू कर दें अभी तो दुकान भी अपनी है व गहने आदि भी हैं। यदि हम सब सोना बेचकर उस पूँजी को व्यापार में लगा दें तो कर्ज भी लेने से बच जायेंगे। व्यापार चमकेगा तो सबसे पहले सोना ही खरीद देंगे। चारों पुत्रों ने एक स्वर में कहा कि हे पिता अब यही एक उपाय है। आपकी राय बिल्कुल ठीक है, आखिर घर में गहना रखा हुआ दूध थोड़े ही दे रहा है। काम ठीक हो जाये तो सोना ही सोना। पिता ने कहा कि ठीक है, तुम चारों अपनी-अपनी पत्नी से गहने लाओ। चारों पुत्र अपनी-अपनी बीबी से व्यापार की बात बताकर गहने माँगने लगे। सेठजी की बड़ी तीन पुत्र वधुओं ने खुशी-खुशी गहने दे दिये तथा कहा कि मुसीबत के समय ही तो ये सब काम आते हैं, आप व्यापार ठीक कर लीजिये, गहने बनें या न बनें। आप सबकी खुशी ही हमारा गहना है। सिर पर कर्ज न होना सबसे बड़ा गहना है और पति का खुश रहना तो सबसे अनमोल गहना है। परन्तु चौथी व कनिष्ठ पुत्रवधु ने साफ इन्कार कर दिया कि व्यापार क्या मेरे ही गहनों से चलेगा। मेरी माँ ने बचपन से मेरे लिए चीजें (जेवरात) बनवा कर रखी थी अतः मैं अपने गहने बिल्कुल नहीं दूँगी। पति ने समझाया कि भाग्यवान व्यापार चमकते ही मैं तुम्हें दो गुना सोना ले दूँगा। पत्नी ने कहा कि इतना बड़ा व्यापार जब घाटे में आ गया तो क्या भरोसा नया व्यापार चले ना चले और मैं गहनों से भी खाली हो जाऊँ। अतः मैं अपने जेवरात किसी कीमत पर नहीं दूँगी। पति ने कहा कि मेरे अन्य भाई तो पिता के पास जेवरात ले भी गये। तुम नहीं दोगी तो मेरी नाक कट जायेगी। पत्नी ने कहा कि नाक कटे या रहे परन्तु मैं जेवरात नहीं दूँगी। इस बात पर पति ने कड़ा रुख किया तो पत्नी तपाक से बोली, ज्यादा तीन-पाँच करोगे तो कुएँ में डूबकर मर जाऊँगी पर गहने नहीं दूँगी। पति की आँखें कुएँ में डूबकर मरने वाली बात पर फटी की फटी रह गयी और रह-रहकर पिता की वही बात दिमाग पर आघात करने लगी कि उसकी नानी कुएँ में डूबकर मर गयी थी। कहीं सचमुच ही कुएं में डूब कर मर ना जाये; अतः मुँह लटकाये पिता के चरणों में गिरकर रोने लगा। पिता ने पूछा कि क्या बात है बेटा। तुम

तो घर गये थे गहने लेने के लिए। क्या जेवरात खो गये है ? पुत्र ने लज्जा से सिर झुकाकर सारी बात बता दी और कहा कि पिताजी आपकी बात न मानकर मैंने अपराध किया है। जो दोष युक्त खानदान से नाता जोडा और वही दोष इस घर में लाया हूँ। पिता ने कहा कि अब कुछ नहीं किया जा सकता। बड़े बुजुर्ग की हर बात में कीमती अनुभव छिपे रहते हैं जो नहीं मानता एक दिन उपहास का पात्र बनता है।

अतः मानव नहीं जानता कि स्वयं अपराध करके वह आने वाली पीढी को अपराध करने की प्रवृत्ति कितने सहज तरीके से दे देता है। अतः मनुष्य में बहुत से गुण-दोष मात्र जन्म लेने के कारण आते हैं। अस्तु हममें से प्रत्येक मानव का धर्म बनता है कि किसी भी प्रकार अपने व्यवहार व क्रियाओं को साधे रखें। बहुत से व्यक्ति ज्ञान तो रखते हैं परन्तु व्यवहार में ज्ञान को नही लाते। अतः इस प्रकार के व्यक्ति दुर्योधन के भाई ही हैं। दुर्योधन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है-

जानामि धर्मम् न च मे प्रवृत्तिः, जानामि अधर्मम् न च मे निवृत्तिः।

-महाभारत

मैं धर्म की परिभाषा जानता हूँ परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं अर्थात् धर्म को व्यवहार में लाने की आदत नहीं। मैं अधर्म को भी जानता हूँ कि क्या करना गलत है, परन्तु अधर्म से मेरा छुटकारा नही क्योंकि मेरा व्यवहार परिपक्व हो चुका है। अतः नियम, कानून व ज्ञान का जानना क्षमा के लिए दलील नहीं होता। Ignorance of law is no excuse. कानून का न जानना भी माफी के लिए पर्याप्त नहीं। जो भी व्यक्ति जाने-अनजाने अधर्म का व्यवहार करेगा उसे सजा तो भुगतनी ही पड़ेगी। जिन माता-पिता को बच्चों के गलत कदमों की शिकायत है, वे स्वयं के कहीं न कहीं दोष की भी परीक्षा कर लें। कुल मिलाकर निष्कर्ष इस बात पर निकलता है कि यदि किसी व्यक्ति के संस्कार खराब हैं तो उसके व्यवहार में कई व्यक्तियों के संस्कार निहित रहने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः जो भी व्यक्ति अपना भला चाहता है, उसे योग साधनारत् रहकर हर दिशा में हर विषय पर अपने चित्त में संयम लाना ही होगा ताकि गलत संस्कारों का आवेग कमजोर पड़कर फल-भोग की स्थिति से बचा जा सके। चरक संहिता में निर्देश दिया गया है कि-

इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्यचेह च।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्काय कर्मणाम्।।

चरक संहिता ७/२६

अर्थात् इस जीवन में अपना भला चाहने वाले व्यक्ति को निषिद्ध, दुस्साहस वाले तथा मन वाणी और शरीर के निन्दित कर्मों के वेग को रोकना चाहिये। जो व्यक्ति संयम न बरतकर निन्दित कर्म करता है तो समझना चाहिये कि उसके मस्तिष्क की छाप अन्य मानस पटलों पर

भी पड़ेगी। इसलिए बुरे संग से बचने की हिदायत हर ग्रन्थ देता है। अतः साहस धैर्य और विवेक से काम लेकर नीति पर डटे रहने का अभ्यास परिपक्व कर लेना चाहिये ताकि ऐसे संस्कार के फलोदित समय को टालने में सफलता मिल सके जो संस्कार निजकृत कर्मों से सम्बन्धित नहीं थे। अन्यथा मनुष्य सारी उम्र निज सुधार व साधना में बिता देता है। फिर भी संस्कार चक्र में बार–बार उलझकर सारे कर्म भी बिगाड़ लेता है और साधना भी एक ही जगह ठहर सी जाती है, विकास नहीं हो पाता। संस्कारों का धरोहर में मिलना उत्थान व पतन दोनों का ही कारण बन सकता है। उच्च कुल व उच्च संस्कृति वाले परिवार में जन्म लेना ईश्वर की अनुकम्पा है और यह अनुकम्पा वह साधक भक्तों पर करता है।

संस्कारों का प्रभाव मानव समाज पर ही नहीं पशु समाज में भी महत्व रखता है। इस बात को भी एक दंतकथा द्वारा समझा जा सकता है। एक राजा के केवल एक पुत्र था। राजा ने उस पुत्र को बड़े लाड़–चाव से पाला। जब राजकुमार बड़ा हुआ तो राजदरबार में बैठने लगा। राजकुमार काफी विधाओं में निपुण था। घुड़सवारी में सबसे तेज था। एक दिन राजकुमार ने अपने पिता से कहा कि वह सबसे उत्तम घोड़ा खरीदना चाहता है। अतः दरबार में उत्तम से उत्तम घोड़े मँगवाए जायें ताकि वह अपने मनपसन्द घोड़े का चुनाव कर सके। राजाज्ञा से दरबार में दूर–दूर से घोड़े मँगवाए गये। अन्त में एक घोड़ा राजकुमार ने पसन्द कर लिया परन्तु मंत्रीजी ने उस घोड़े को खरीदने से मना कर दिया। जब भी घोड़े लाये जाते थे, मंत्रीजी उस घोड़े के पूरे खानदान के विषय में जानकारी प्राप्त करते थे। जब राजकुमार ने पूछा कि एक ही घोड़ा लाखों घोड़ों में मैंने पसन्द किया है और उसे ही आप मना कर रहे हैं, आखिर क्यों ? मंत्रीजी ने कहा कि प्राप्त जानकारी के अनुसार इस घोड़े की माँ का स्वभाव ऐसा था कि वह पानी को देखकर डर जाती थी। इस पर राजकुमार हँसने लगा कि माँ का दोष इस घोड़े पर क्यों आरोपित कर रहे हो ? पानी मँगवाया गया, जिसे देखकर घोड़ा डरा ही नहीं। अतः मंत्री जी की बात पर ध्यान नहीं दिया गया और घोड़ा खरीद लिया गया। राजकुमार सुबह–शाम घुड़सवारी करता और विशेष सेवकों द्वारा घोड़े की देखरेख की जाती। एक दिन शिकार को गया राजकुमार रास्ता भटककर दूसरे देश में जा पहुँचा। उस देश के राजा की राजकुमार के पिता से कड़ी शत्रुता थी। अतः राजकुमार अपने आप को छिपाने की कोशिश में इधर–उधर घूम रहा था। कि राजकुमारी से उसकी भेंट हुई दोनों का रोज बाग में मिलन होने लगा और प्रेम इस सीमा पर पहुँच गया कि दोनों ने विवाह करने का निर्णय कर लिया। परन्तु दोनों के पिता एक दूसरे के शत्रु थे। अतः विवाह को मन्जूरी मिलना सम्भव नहीं था। राजकुमारी ने सलाह दी कि तुम आधी रात में मेरे महल के पीछे ठहरना, मैं चुपके से ऊपर से तुम्हारे घोड़े पर कूद पड़ूँगी और तुम तुरन्त मुझे घोड़े पर बैठाकर अपने देश की सीमा की ओर बढ़ जाना। ऐसा ही हुआ परन्तु गुप्तचरों ने राजकुमारी को आधी रात के समय घोड़े पर जाते देखा तो पीछे राजा की सेना उन्हें पकड़ने के लिए लगा दी और एक गुप्तचर ने राजा

को जगाकर इस घटना की सूचना दी। राजा ने तुरन्त तीव्रगामी घोड़ा लिया और सेना लेकर उसी दिशा में गया। इधर राजकुमार शत्रु के भय से घोड़े को तेज दौड़ाये जा रहा था।

मार्ग का सही ज्ञान नहीं था। चलते-चलते रास्ते में नदी पड़ी। पानी को देखकर घोड़ा थम गया। राजकुमार ने लाख कोशिश की परन्तु घोड़ा वहीं बिदकता रहा, आगे नहीं बढ़ सका। इतने में राजा के दूत, सिपाही तथा थोड़ी देर में राजा और उसकी सेना भी वहाँ पहुँच गयी। जब राजकुमार को गिरफ्तार किया जाने लगा तो राजकुमार ने अपनी म्यान में से तलवार निकाली और घोड़े का सिर काट दिया। इस पर राजा ने पूछा कि मेरी बेटी को भगाकर ले जाने का दोष तुम्हारा था और तुमने घोड़े को दण्ड दिया, ऐसा क्यों ? राजकुमार ने कहा कि हे राजन मैं अपने कार्य में पूर्णतया सफल होता परन्तु इस घोड़े ने मुझे धोखा दिया। इसे खरीदते समय हमारे राजमंत्री ने परामर्श दिया था कि इस घोड़े की माँ पानी देखकर डरती थी, अतः इसे न खरीदा जाये। परन्तु मैंने जिद् करके इसे खरीद लिया आज मुसीबत के समय भी इसका दोष न हट सका और मैं नदी पार करने से वंचित रहकर आपके आधीन हूँ। आज मैंने इसे खत्म करके इसके खानदान को नष्ट किया है क्योंकि यह भी इसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न करता और इसकी सन्तान में यह दोष आता। इतना सुनकर राजा ने युवक को क्षमा कर दिया। परन्तु सबके सामने राजकुमारी की गर्दन धड़ से अलग कर दी। राजकुमार ने कहा कि तुमने ऐसा क्यों किया ? राजा ने कहा कि हे राजकुमार इस राजकुमारी की माता भी मेरे साथ भागकर आयी थी। और आज यह भी राजमहल से भागकर जा रही थी। कल यह भी ऐसी सन्तान उत्पन्न करती और उस सन्तान में भी ऐसा दोष आता। अतः मैंने इस दोष की जड़ आगे बढ़ने से रोक दी। ना होगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।

इस कथन से स्पष्ट होता है कि पशु के गुण धर्म-स्वभाव भी मानव समाज की तरह भावी पीढ़ी के अन्दर सहज ही प्रवेश कर जाते हैं। अतः हमारा स्वभाव-व्यवहार परिपक्व व नीतियुक्त होना चाहिये। आचार संहिताओं की रचना भी इसी उद्देश्य को लेकर की गयी है जिससे उन्हें पढ़कर, समझकर व उन पर चलकर उत्तम व्यक्तित्व को धारण करके भावी समाज की नींव सुदृढ़ की जा सके। अतः सद्वृत्तों का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म बनता है। सद्वृत्तों की साधना सबसे बड़ी साधना है। यम, नियम का पालन ही सद्वृत्त है। एक सद्वृत्त का पालन करने से ही आरोग्य एवं इन्द्रियों पर विजय दोनों अर्थ सिद्ध होते हैं।

अतः संस्कार चक्र को काटने के लिए साधना की शक्ति को बढ़ाना होगा ताकि तपोबल के आगे भुगतान में आने वाले संस्कार दुर्बल पड़ जायें और उनका प्रभाव न पड़ सके। साधना में सफलता मिलेगी या नहीं, साधना हो भी पायेगी या नहीं ऐसा सोचकर मन की शक्ति को बाह्य परिवेश के नीचे न दबने दें। वैदिक ऋषियों ने कहा है– चरैवेति, चरैवेति। अर्थात् चलते रहो, चलते रहो। जो मंजिल की ओर चलता रहता है वह एक न एक दिन पहुँच ही जाता है। प्रयत्न में शिथिलता न आये तो सफलता मिल ही जाती है। यथा–Try & Try again, you will

succeed at last. एक अंग्रेजी विद्वान डा० नारमॅन मेकलियड ने बहुत कीमती बात कही है, जिसे जीवन का आदर्श बनाकर आजीवन इस पर अमल करना ही चाहिये--

"Let the road be rough & dreary end its and for out of sight
Foot it brave, strong & weary Trust in God & do the right."

अर्थात् भले ही मार्ग खराब और खतरनाक हो, इस मार्ग का अन्त बहुत दूर और न दिखाई देने वाला हो, आप में बल हो या आप थके हो फिर भी आप साहसपूर्वक बढ़ते जाइये, ईश्वर पर भरोसा रखिये और जो ठीक हो वह कार्य करते जाइये। आप देर–सवेर अपना लक्ष्य निश्चित ही प्राप्त कर लोगे।

(क्रमशः)

'जिन लोगों में तप का लवलेश नहीं, संयम नहीं, आहार-विहार ठीक नहीं, ब्रह्मचर्य नहीं, योगध्यान नहीं, अन्तर्दृष्टि नहीं–ऐसे लोग न्यारा पंथ चलाते हैं, किन्तु इनमें सच्चाई नहीं होती। ऐसे लोग स्वयं तो अज्ञान-कूप में पड़े ही होते हैं, दूसरों को भी गुमराह करके पाप का भागीदार बनाया करते हैं। इसलिए सिद्धान्तों के वास्तविक निर्माता व प्रणेता ऋषिगण ही हुआ करते हैं। वे 'साक्षात्कृत धर्मा' व आप्त काय होते हैं। उनकी बुद्धि में जो भी बात आती है अथवा वे जो कुछ कह देते हैं–वह सत्य ही हुआ करती है।

–गुरुदेव

चित्त पूजन

–स्वामी मुक्तानन्दजी महाराज

मानवजीवन में परमात्मा को पाने के लिए साधनरूप में अनेकानेक सम्पत्तियाँ हैं। सभी सम्पत्तियों में चित्त एक महानतम् सम्पत्ति है, अनमोल है। जगत में सारी चीजें मिल सकती हैं परन्तु चित्त यदि एक बार चला जाये तो फिर से मिलना महा कठिन है। चित्त गया सो गया। फिर से तुमको प्राप्त नहीं होगा। इसलिए चित्त को मजबूत, दृढ़ निर्मल, शक्तिशाली, दीर्घकाल तक सत्य–स्फुरणयुक्त बनाने के लिए ही हमारी आर्य संस्कृति में उपासना बतलाई गयी है। मन्त्रपाठ, स्तोत्रपाठ, ईश–चिन्तन जो भी कुछ तुम्हारी उपासना है, वह सब चित्तपूजन है।

एक बार एक बड़े उद्योगपति मेरे गुरुदेव के पास आये थे। उनको सम्भालने के लिए दो कर्मचारी, दो नर्सें और एक डॉक्टर थे। कारण वे 'मेण्टल केस' अथवा नष्टचित्त हो गये थे। चिन्तन कर–कर वे चित्तशून्य हो गये थे। स्फुरण नष्ट हो गया था। निद्रा हट गयी थी। बुद्धि नष्ट हो चुकी थी। वे पागल–से बन गये थे। एक चित्त के जाने पर उनका अस्तित्व ही मिट गया था। उनके बहुत कारखाने थे। चीनी की फैक्टरी थी। कपड़े की मिलें थीं। वे बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त सम्माननीय व्यक्ति थे, परन्तु एक चित्त के कोप होने पर, 'चित्तेश्वर' निकल जाने पर जीते हुए भी मरे का–सा जीवन बिता रहे थे। केवल एक चित्त के सहारे, एक चित्त की कृपा से, एक चित्त की मित्रता से उन्होंने देश–विदेश में काफी बड़ा व्यापार चलाया था। अब उनका चित्त उनसे रूठकर चला गया था। चित्त की मित्रता न रही थी। इसी कारण उनके उच्च स्थान की कैसी दुर्दशा हुई !

चित्त सबसे अधिक महत्व का है। चित्त में सब कुछ है। एक बार एक विदेशी लॉर्ड हमसे मिलने आये थे। आश्रम में कुछ काल ठहरे भी थे। एक दिन वे बोले, "स्वामी जी ! चित्त में शांति नहीं है। बेचैन हो गया हूँ। निद्रा अच्छी नहीं आती। जीवन रसहीन हो गया है। मेरे पास बहुत धन है। अपार सम्पत्ति है। अपने देश में मेरा भारी सम्मान है। फिर भी मुझे शांति नहीं, समाधान नहीं। मुझे बड़ी चिन्ता लगी रहती है। क्यों इतना चिन्तित हूँ यह समझ में नहीं आता। आप कृपा करके कुछ उपाय बतलाइए। भारत में ध्यान की बड़ी महिमा है ऐसा जानकर मैं यहाँ आया हूँ। आते–आते दिल्ली में एक पवित्र संतमाता से मिलना हुआ। उनसे सत्संग करके बहुत प्रसन्नता हुई। उन माता ने आपका परिचय दिया और मुझे आपसे मिलने को कहा। अब आप मुझे ऐसा साधन बताइये जिससे चित्त स्थिर, शांत और स्फुरणयुक्त बने।"

चित्त की महान कीमत है। चित्त को साधारण मत समझो। चिति या चित्प्रकाश की संकोचदशा चित्त है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का एक सूत्र है–चेत्यसंकोचिनी चित्तम्। उसके भाष्य में लिखा है–**न चित्तं नाम अन्यत् किंचित् अपि तु सैव भगवती तत्**। चित्त प्रत्यक्ष भगवती है। याने भगवती चिति कुण्डलिनी है। चित्त के सहारे ही समष्टि जगत हुआ है। चित्त के ही सहारे व्यष्टि जगत में जीव–प्रपंच है। चित्त चितिशक्ति की एक स्फुरणा है। चित्प्रकाशरूप परमेश्वर अनन्त

शक्ति के भण्डार हैं। उन परमात्मा में वह शक्ति अनन्त प्रकार के अनन्त कार्य करने वाली अभेदरूप में स्थित है; जैसे कि सूर्य की अनन्त किरणें अनन्त प्रकार की होते हुए भी सूर्य के अनुरूप होकर उसमें एकाकार रहती है।

यह शक्ति अनन्त कार्य करते हुए भिन्न–भिन्न रूपों में दीखने पर भी निर्विकार है। जैसे म्यान में तलवार निष्क्रिय रूप में रहकर संग्राम में मात्र छेदन कार्य करती है, वैसे ही चिति इस जीवात्मा को अपने कर्मफल भोगवाने में अर्थात् कर्मफल देने में सहायक होने के निमित्त चित्त होकर रहती है। चित्त को एक सामान्य वस्तु समझकर उसकी अवहेलना मत करो। मनमानी, व्यर्थ, गन्दी बातें सोचना, निशिदिन पाप चिन्तना, मन की गति अशुचिमय बनाना, मति तर्कयुक्त बनाना, यही घोर नरक की साधना है। परमेश्वर चित्त रूप से तुममें रहकर तुमको अपने कर्मों का फल देता है। जरा सोचो, तुम्हारे कौन से गुप्तकर्म परमेश्वर से छिपे रहते हैं। इसीलिए ध्यान करो। चित्त में उच्च भाव से श्री गुरु–चिन्तन करो।

चित्त जैसा चिन्तन हो, वैसा फल देने वाला है। मानव चित्त से ही शांत, चित्त से भ्रान्त, चित्त से मेधावी, चित्त–प्रसाद से कवि, चित्त से बुद्धिमान्, चित्त से उच्च कलाकार, चित्त से महान संगीतकार, चित्त से योगी होता है। चित्त से शास्त्रों में उपाधि और चित्त से ही समाधि प्राप्त है। चित्त ही गुरु, चित्त शक्ति–संचालक और चित्त ही निर्विकल्प पद है। चित्त भ्रष्ट सदा कष्टी, कर्माचार–भ्रष्टी, मोक्षमार्ग–नष्टी होता है। मलिन चित्त ही घोर नरक है।

चित्त को सम्भालो, चित्त तुम्हारा सुखद मित्र है। गुरुजनों के परमप्यार का अधिकारी शुद्ध चित्त है। इसलिए तुम शांत चित्त से ध्यान करो। चित्त में रहने वाला परमेश्वर तुरन्त प्रसन्न होकर तुमको अपना पूरा विश्वरूप ध्यान में दिखलाएगा। इस चित्तप्रसाद से तुम आत्म–विमर्श सहज में पाओगे। तुम्हारे पास चित्त रूप कितनी बड़ी सम्पत्ति है। इतनी महान आश्चर्यमय चितिशक्ति तुम्हारे पास होते हुए भी तुम क्यों चिल्लाते हो ? क्यों दुःखी हो ? क्यों हीन हो ? क्यों दीन हो ? चित्त में सतत् रहने वाली चिति शक्ति की पूजा करो। चित्त में अन्तर–स्फुरणरूप में स्फुरने वाले आत्मतत्व को सदा याद रखते हुए व्यवहार करो। अस्तु।

परमात्मा सभी में चिद्रूप से व्याप्त होने से वह तुम्हारे प्रपंच को, तुम्हारे ध्यानावस्था में होते हुए भी, आनन्द से सम्पन्न कराएगा। अभी–अभी की एक घटना है। एक ऊँचे सात्विक पंडित घराने का लड़का माता–पिता के साथ सहजा आश्रम में आया करता है। उसके माता–पिता भी पवित्र, सदाचारी और पुरोहित घराने के हैं। बालक अपने आप ध्यान करने लग गया। ध्यान करते–करते अन्दर की चितिशक्ति का विकास हो गया। वह लड़का प्रेम से मन्त्र जाप करता रहता। परमगुरु परशिव की शक्ति से सम्पुटित होकर मिलने वाला मन्त्र, मन्त्र ही नहीं, एक महामहिमामय सार्वभौम गुप्त दिव्य शक्ति है। मन्त्र में परशिव और गुरु एक होकर रहते हैं। इसीलिए मन्त्र चैतन्य है। उसमें सर्वज्ञत्व आदि का बल रहता है–**'मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।'** मन्त्र को जपते–जपते उस बालक को ध्यान में अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ

होने लगी। छोटा–सा बालक मन्त्रस्फुरण की महिमा से ध्यान में मन्त्रदेवता से कुछ भावी घटनाओं का ज्ञान पाने लगा।

एक दिन जब उसकी परीक्षा समीप थी, ध्यान में मन्त्रदेवता प्रकट हुए और उन्होंने कहा, तुम्हें एक मोटर–दुर्घटना में चोट लगने वाली है जिससे तुम परीक्षा में नहीं बैठ सकोगे।' जब उस बालक ने यह वृतान्त अपने माता–पिता को बतलाया तो वे हँसने लगे और बोले–'तुम्हें पढ़ना नहीं, इसलिए बातें बनाते हो।' परन्तु तीसरे ही दिन जैसा उसने कहा था ठीक वैसा ही हुआ। उसके दाहिने हाथ को मोटर दुर्घटना में चोट लगी और वह परीक्षा नहीं दे सका।

पुनः एक सप्ताह के पश्चात् दूसरी एक आश्चर्यजनक घटना घटी। वह अपने भाइयों के साथ एअरगन लेकर खेलने के लिए अपने फार्म पर गया। प्रातः ही तन्द्रावस्था में मन्त्रदेवता फिर प्रकट हुए और चेतावनी दी, 'तुम्हारी बन्दूक मनुष्य का रक्त चाहती है।' उसने इस बात पर ध्यान नहीं दिया। उस दिन शाम को वह एअरगन लेकर भाइयों के साथ खेलने गया। फार्म से लौटने के बाद एअरगन को दोनों घुटनों के बीच सीधी रखकर झुककर वह कमरे का ताला खोलने लगा। इतने में बंदूक फिसल गयी। पास खड़े हुए लड़के ने उसको पकड़ने का प्रयत्न किया तो अकस्मात उसका घोड़ा दब गया और कारतूस उसकी छाती में घुस गया। इससे उसके दाहिने फेफड़े के निकट ढाई इंज लम्बा जख्म आया। परन्तु उसकी चित्तवृत्ति लेशमात्र भी नहीं बिगड़ी, क्योंकि वह ध्यानस्थ रहा। एकदम शांत और स्थिर रहा। उसे डॉक्टर के पास ले जाया गया। जब उसको ले जाया जा रहा था, तब मन्त्रदेवता ने फिर दर्शन दिए और उससे कुछ गुप्त रहस्य कहे। उसने अपनी घायलवस्था में ही उन बातों को एक पत्र में लिखा और बाद में वह पत्र मुझको दे दिया। डॉक्टर ने ऑपरेशन किया। यह घाव बड़ा खतरनाक हो सकता था, परन्तु परशिव ने उसकी रक्षा की। ऑपरेशन के पश्चात् उसे छाती में दर्द होने लगा तो उसे ध्यान की तन्द्रा लग गयी, जिसमें एक महात्मा प्रकट हुए। उन्होंने उसकी छाती पर हाथ फिराया। दर्द फौरन मिट गया। इससे तुम समझ सकोगे कि ध्यान सांसारिक बातों में भी कितना उपयुक्त एवं आचरणीय है।

ध्यान परमार्थ का ही नहीं, बल्कि हमारे प्रपंच का भी महान मित्र है। इसमें कुछ सन्देह नहीं, कुछ असत्य नहीं। ध्यान से चित्त निर्मल होने से विद्यार्थी उच्च श्रेणी में पास होता है। ध्यानकाल में चित्त निरोध के कारण थोड़ा–थोड़ा कुम्भक होने से स्नायु का बल बढ़ता है। रुधिराभिसरण ठीक होता है। खाया हुआ अन्न पूर्णरूप से पच जाता है। रक्तकण बढ़ते हैं। ध्यान से चपलता बढ़ती है। नित्यप्रति ध्यान करने वाले की साधारण छोटी–मोटी बीमारी ठीक हो जाती है। मैंने अपने परिचय के बहुत बालक–बालिकाओं को ध्यान में उच्च स्फूर्ति, स्फुरण, पवित्रता, चरित्रता पाकर उन्नत होते हुए देखा है। ध्यान से चित्त शांत और मन सहज ही स्थिर होता है। प्राण की गति साधारण गति से मन्द हो जाती है। अन्तरशान्ति प्राप्त होने पर जीवन में एक नयी स्फूर्ति आती है।

* * *

श्री पोखपाल परिवार पर गुरुवर कृपा

—प्रेषकः केशवदेव उपाध्याय (वाराणसी)

गतांक से आगे

वर्ष दो हजार एक की गुरुपूर्णिमा का पर्व श्रद्धायुक्त भाव एवं काफी उत्साह के साथ दिनांक पाँच जुलाई को भाई श्री पोखपाल जी ने मनाया था। ये और इनकी पत्नी श्रीमती कश्मीरी देवी पूरे साल में चार पाँच बार अनुष्ठान किया करते हैं। यह अनुष्ठान कभी सपत्नीक एवं कभी एकाकी हुआ करता है। भाई श्री पोखपाल जी ने गुरुपूर्णिमा के पर्व के बाद एकतालिस दिन का एकाकी अनुष्ठान राजस्थान प्रान्त के भरतपुर में करने का निश्चय किया। अपने एक गुरुभाई के यहाँ जाकर अगस्त में एकतालिस दिन का अनुष्ठान आरम्भ कर दिया। जिस आदरणीय गुरुभाई के घर पर आपने अपने एकतालिस दिन का अनुष्ठान आरम्भ किया। उसने इनके रहने एवं खाने पीने का बड़ा ही समुचित प्रबन्ध कर रखा था। इनके अनुष्ठान की पुर्णाहुति दिनांक तेरह सितम्बर दो हजार एक को होनी थी। भरतपुर में भाई श्री पोखपाल जी का अनुष्ठान नियम से लगातार निर्विघ्न समाप्त हुआ।

इधर गाँव में जहाँ के ये निवासी हैं इनकी पत्नी पूरा घर गृहस्थी का कार्य सम्भाला करती थी। इस अनुष्ठान अवधि में इनकी एक भैंस के प्रत्येक अंग में बारी–बारी से फोड़ा निकलना आरम्भ हुआ। एक फोड़ा जब तक ठीक होता था, दो या तीन फोड़े निकल जाते थे। एक प्रकार से यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि भैंस का पूरा शरीर घाव से परिपूर्ण हो गया था। एवं भैंस अत्यधिक कष्ट एवं पीड़ा में थी। श्रीमती कश्मीरी देवी जी भैंस के इस रोग से बेहद परेशान एवं चिन्तित थीं। श्री पोखपाल जी के गाँव के नजदीकी गाँव तैयबपुर कमालपुर निवासी हमारे एक आदरणीय गुरुभाई जिनका नाम मास्टर मदनलाल जी है, इन लोगों के हितैषी एवं शुभचिन्तक हैं। श्री पोखपाल जी के अनुष्ठान के समय या इस दम्पत्ति के न रहने पर आप पूरा घर का कार्य सम्भालते हैं। मास्टर मदन लाल जी भी भैंस के कष्ट के कारण परेशान थे एवं दवा कराते–कराते थक चुके थे। आपने श्रीमती कश्मीरी देवी से यह कहा कि अब तो रोग बहुत बढ़ गया है और यदि आप की राय हो तो श्री पोखपाल जी को खबर देकर बुला लिया जाय। श्री पोखपाल जी की धर्मपत्नी ने ऐसा करने से मदनलाल को साफ मना कर दिया एवं कहा कि भैंस को तो हम लोग देख ही रहे हैं एवं इसके कष्ट निवारण हेतु श्री सद्गुरुदेव भगवान से प्रार्थना करूँगी। उनका अनुष्ठान निर्विघ्न समाप्त हो ऐसी मेरी भावना एवं इच्छा है। श्रीमती कश्मीरी देवी के मुख से यह भाव भरी बातें सुनकर मास्टर मदलाल निरूत्तर हो गये।

दूसरे दिन नौ सितम्बर दो हजार एक को रविवार का दिन था। आज श्रीमती कश्मीरी देवी के मन में भैंस के प्रति बार–बार दया एवं करूणा का भाव आ रहा था। आरती पूजन–ध्यान में

भी कई बार रोगी भैंस की याद आ जाती। अतः आरती पूजा ध्यान के बाद जब यह पूजा कक्ष पहुँची, तो सीधे उस स्थान पर गयी जहाँ मवेशी बाँधे जाते थे। वहाँ पहुँचकर इन्होंने आरती वाले जल का भैंस के ऊपर छिड़काव किया एवं आँख बन्द कर श्री गुरूदेव भगवान से महान आतर भाव से प्रार्थना किया कि प्रभुजी इसे ठीक करने की कृपा करें अभी वह प्रार्थना कर ही रही थी कि उन्हें श्री गुरूदेव की वाणी स्पष्ट सुनायी दी कि लल्ली, तुम्हारी इस भैंस का अन्तिम समय चल रहा है एवं कल सवेरे तक यह नहीं रहेगी। श्री गुरूदेव भगवान की वाणी सुनकर श्रीमती कश्मीरी देवी की आँख तत्काल खुल गयी एवं इनका शरीर उसी स्थान पर जड़वत हो गया। उन्होंने वहीं से श्री गुरूदेव भगवान को प्रणाम किया आशीर्वाद देने के बाद श्री गुरूदेव भगवान ने कहा कि लल्ली, इसका शरीर सबेरे तक नहीं रहेगा एवं यह रोग इसका प्राणलेवा रोग ही है। तुम इसकी चिन्ता मत करो। तुम्हारी इसके प्रति दया की भावना से इसका परलोक भी सुधर जायेगा। अतः इन सब बातों की चिन्ता छोड़कर तुम स्वयं अपना स्वाध्याय करती जाओ, सब प्रकार से कल्याण होगा।

परन्तु श्रीमती कश्मीरी देवी छोटे प्यारे बच्चे की तरह अपनी जिद पर अड़ी थीं। उन्होंने श्री गुरूदेव भगवान से प्रार्थना किया कि प्रभु जी इस बार तो हमारी इस रोगी भैंस को आप ठीक कर दी दीजिये वरना मैं परेशान हो जाऊँगी। जैसा कि आप जानते हैं वो राजस्थान में अनुष्ठान कर रहे हैं। एवं मैं गृहस्थी का कार्य सम्भालने में ही परेशान हूँ, अतः आप से हमारी यह प्रार्थना है कि इस बार इस भैंस को ठीक करने की कृपा करें।

श्रीमती कश्मीरी देवी की ये बातें सुनकर आराध्यदेव श्री गुरूदेव भगवान के मुख पर मधुर मुस्कान आ गयी एवं यह कहते हुए अन्तर्ध्यान हो गये कि ठीक है, यह स्वस्थ हो जायेगी।

घटना आज से करीब सात आठ वर्ष पूर्व सन् उन्नीस सौ तिरानवे चौरानवें के नवम्बर माह की है। भाई श्री पोखपाल जी अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कश्मीरी देवी के साथ अपने मकान पर बैठकर श्री प्रभुलीला चरित्रों का वर्णन कर रहे थे। ये लोग नाश्ता करके अपने गृहस्थ के कार्य में लगने वाले थे कि इनके मकान पर हमारे कुछ गुरूभाई पं. शिवकुमार जी, श्री मोहर सिंह जी, श्री बिल्लराम और दो अन्य अध्यात्म प्रेमी आकर प्रभु चर्चा आरम्भ कर दिये। उपरोक्त आदमियों ने कहा कि हम लोग हठयोग की क्रिया धौती सीखने के लिये आपके घर आये हुए हैं। धौती क्रिया में लगने वाले सामान भी हमारे ये बन्धु साथ लेकर आये थे। इन तीनों आदमियों को भाई श्री पोखपाल जी ने हमारे एक अन्य वरिष्ठ गुरूभाई के साथ धौती करके दिखलाया एवं धौती की विधि तथा उससे होने वाले लाभ को खूब अच्छी प्रकार समझा दिया। इसके बाद पोखपालजी ने कहा कि आप लोग अब धौती करें। जब ये तीनों आदमी धौती करना आरम्भ किए तो श्री बिल्लराम एवं श्री मोहर सिंह की धौती तो खूब अच्छी प्रकार से हो गयी परन्तु पण्डित शिवकुमार जी की धौती फँस गयी। धौती न तो नीचे जा रही थी एवं न ऊपर आ रही थी। बड़ी

ही कष्टदायक एवं भयावह स्थिति बन गयी थी। अब उनको श्वांस लेने में भी बेहद परेशानी होना आरम्भ हो गयी एवं दम घुटने की स्थिति सी बन गयी थी। महान कष्ट के समय श्री प्रभु जी की याद आ ही जाती है। वही हुआ, वहाँ उपस्थित हमारे सभी भाई बहन आनन्दकन्द श्री गुरूदेव भगवान जी की पुकार आतर स्वर में करने लगे।

नवम्बर माह की चौबीस तारीख थी। प्रातः काल के सवा दस बज रहे थे। आखिर करूणा सागर श्री गुरूदेव भगवान को दया आ ही गयी एवं श्री पोखपाल जी के अहाते में धोती–कुर्ता–चादर–छड़ी लिए हमारे प्रभुजी स्थूल रूप से पं. श्री शिवकुमार जी के सामने चार पाँच फुट की दूरी पर प्रकट हो गये एवं बोले–लल्ला ! घबड़ाता क्यों है, धौती के कपड़े को धीरे–ध ीरे पेट के अन्दर जाने दो। उन्होंने धौती को भीतर डालना आरम्भ किया एवं पूरी धौती पेट में चली गयी। इसके बाद श्री प्रभुजी ने कहा कि लल्ला ! अब धौती को धीरे–धीरे पेट से बाहर निकालो। श्री शिवकुमार जी ने धौती निकालने का प्रयास किया एवं धौती आसानी से बाहर आ गयी। श्री गुरूदेव भगवान का यही अमोघ सिद्ध संकल्प था, कि जिस धौती क्रिया को करने में पं० शिवकुमार जी क प्राणों पर आफत आ गयी थी वह धौती क्षणमात्र में पूरी हो गयी। इस प्रकार आराध्यदेव श्री सद्गुरूदेव जी महाराज ने स्थूल रूप से प्रकट होकर श्री शिवकुमार जी को धौती क्रिया सिद्ध करायी।

इसी प्रकार इनके (भाई श्री पोखपाल जी के) गाँव के करीबी गाँव में एक आदमी का रेडियो, टेपरिकार्डर एवं टी०वी० चोरों ने चुरा लिया। इसके साथ ही उसके घर गृहस्थी का कई और सामान चोरी हो गया। वह आदमी बड़ा ही परेशान था एवं गरीब था कि अब मैं यह सामान जिन्दगी में दुबारा खरीदकर नहीं बना सकता। वह इस प्रकार अपने पूरे परिवार के साथ दुःखी था। दैववशात् इसी बीच उसकी मुलाकात श्री पोखपाल जी से हो गयी एवं उसने अपना दुखड़ा इनसे निवेदन किया। उसकी बातों को सुनकर श्री पोखपाल जी के मन में दया आ गयी और उन्होंने कहा कि कल प्रातः आठ बजे हमसे मिलना। अपनी प्रातःकाल की आरती पूजा के बाद जब इन्होंने ध्यान में प्रभु जी से प्रार्थना किया तो श्री प्रभुजी ने चोरी की घटना का पूरा विवरण इन्हें ध्यान में दिखला दिया एवं स्पष्ट तौर पर समझा दिया कि किसने कब कैसे चोरी की है। एवं इसके साथ ही आदेश दिया कि लल्ला ! इस बार यह बात जिसका सामान चोरी गया है उसे एवं चोरी करने वाले दोनों को बतला दो सामान मिल जायेगा, परन्तु भविष्य में चोरी का पता लगाने का कार्य मत करना। यदि तुमने आगे यह कार्य किया तो तुम्हारी साधना में बाधक बनेगा। उसके बाद श्री पोखपाल जी ने ऐसे कार्य करना बन्द कर दिया। इस परिवार पर श्री गुरूदेव की कृपायें सदैव हो रही हैं। धन्य हैं ऐसे गुरूभक्त हमारे गुरूभाई–बहन।

***

आध्यात्मिक गुरु

—स्वामी विवेकानन्द

यह निश्चित है कि प्रत्येक आत्मा को पूर्णता की प्राप्ति होगी और अन्त में सभी प्राणी उस पूर्णावस्था को प्राप्त करेंगे। हम इस समय जो भी हैं, वह हमारे पिछले अस्तित्व और विचारों का परिणाम है तथा हमारी भविष्य की अवस्था हमारे वर्तमान कार्यों और विचारों पर अवलम्बित रहेगी। किन्तु इससे हमारे लिए दूसरों से सहायता प्राप्त करना वर्जित नहीं हो जाता। किसी बाह्य सहायता से आत्मशक्तियों का विकास अधिक तेजी से होने लगता है। अतः संसार के अधिकांश मनुष्यों के लिए बाह्य सहायता की प्रायः अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है। हमारे विकास को स्फुरित करने वाला प्रभाव बाहर से आता है और हमारी प्रसुप्त शक्तियों को जगा देता है। तभी से हमारी उन्नति का प्रारम्भ होता है, आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ होता है और अन्त में हम पावन और पूर्ण बन जाते हैं। यह स्फुरण शक्ति, जो बाहर से आती है, हमें पुस्तकों से प्राप्त नहीं हो सकती; एक आत्मा दूसरी आत्मा से ही प्रेरणा प्राप्त कर सकती है, किसी अन्य वस्तु से नहीं। हम जन्म भर पुस्तकों का अध्ययन करते रहें और बड़े बौद्धिक भी हो जायँ, पर अन्त में हम देखेंगे कि हमारी आत्मा की कुछ भी उन्नति नहीं हुई है। यह आवश्यक नहीं है कि उच्च श्रेणी के बौद्धिक विकास के साथ मनुष्य का आत्मिक विकास भी सम तुल्य हो जाय। प्रत्युत हम प्रायः यही देखते हैं कि बुद्धि का उच्च विकास आत्मा की ही वेदी पर होता है।

बुद्धि की उन्नति करने में तो हमें पुस्तकों से बहुत सहायता प्राप्त होती है, पर आत्मा के विकास में उनसे लगभग शून्य प्राय ही सहायता प्राप्त होती है। ग्रन्थों का अध्ययन करते–करते कभी–कभी हम भ्रमवश ऐसा सोचने लगते हैं कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति में इस अध्ययन से सहायता मिल रही है। पर जब हम अपना आत्म विश्लेषण करते हैं, तब पता लगता है कि ग्रन्थों से केवल हमारी बुद्धि को ही सहायता मिली है, आत्मा को नहीं। यही कारण है कि हर व्यक्ति आध्यात्मिक विषयों पर अद्भुत व्याख्यान तो दे सकता है, पर जब कार्य करने का अवसर आता है, तो वह अपने को बिल्कुल निकम्मा पाता है। कारण यह है कि जो बाह्य शक्ति हमें आत्मोन्नति के पथ में आगे बढ़ाती है, वह हमें पुस्तकों द्वारा नहीं मिल सकती। आत्मा को स्फुरित करने के लिए ऐसी शक्ति किसी दूसरी आत्मा से ही प्राप्त होनी चाहिए।

जिस आत्मा से यह शक्ति मिलती है, उसे गुरु या आचार्य कहते हैं और जिस आत्मा को यह शक्ति प्रदान की जाती है, वह शिष्य या चेला कहलाता है। इस शक्ति के संप्रेषण के लिए पहले तो यह आवश्यक है कि जिस आत्मा से यह शक्ति संचारित होती है, उसमें उस शक्ति को अपने पास से दूसरे में संप्रेषित कर सकने की क्षमता हो, और दूसरी आवश्यकता यह है कि जिसको वह शक्ति संप्रेषित की जाय, उसमें उसको ग्रहण करने की क्षमता हो। बीज सजीव हो और खेत अच्छी तरह से जुता हुआ हो। जब ये दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं, तब धर्म की

आश्चर्यजनक उन्नति होती है। 'धर्म का वक्ता अलौकिक हो और श्रोता भी वैसा ही हो।' और जब दोनों अलौकिक या असाधारण होंगे, तभी अत्युत्तम आत्मिक विकास सम्भव है, अन्यथा नहीं। ऐसे ही लोग यथार्थ गुरु हैं और ऐसे ही लोग यथार्थ शिष्य। अन्य तो मानो धर्म का केवल खिलवाड़ करते रहते हैं। उनके बारे में हम कह सकते हैं कि वे मानो धर्म–क्षेत्र की केवल बाहरी परिधि पर खड़े हैं। पर उसकी भी कुछ न कुछ सार्थकता है—धर्म की सच्ची प्यास उससे जाग्रत हो सकती है; समय आने पर ही सब कुछ प्राप्त मिलता है। ज्योंही आत्मा को धर्म की आवश्यकता होती है, त्योंही धार्मिक शक्ति का देने वाला कोई न कोई आना ही चाहिए। 'खोज करने वाले पापी की भेंट खोज करने वाले उद्धारक से हो ही जाती है।' जब ग्रहण करने वाली आत्मा की आकर्षण–शक्ति पूर्ण और परिपक्व हो जाती है, उस समय उस आकर्षण का उत्तर देने वाली शक्ति आनी ही चाहिए।

पर मार्ग में बड़े खतरे भी हैं। एक खतरा यह है कि कहीं ग्रहीता आत्मा (शिष्य) अपने क्षणिक आवेश को यथार्थ पिपासा न समझने लगे। ऐसा हमें स्वयं अपने में भी मिलेगा। हमारे जीवन में प्रायः ऐसा घटित होता है कि जिस व्यक्ति पर हमारा बहुत प्रेम है, वह अचानक मर जाता है, उसकी मृत्यु से हमें क्षण भर के लिए धक्का पहुँचता है। हम सोचते हैं कि यह संसार हाथ से निकला जा रहा है, हमें संसार से कुछ उच्चतर वस्तु चाहिए और अब हम धार्मिक होने जा रहे हैं। पर कुछ दिनों के बाद वह तरंग निकल जाती है और हम जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं। हमें अनेक बार इन आवेशों में धर्म की सच्ची पिपासा का भ्रम हो जाता है। पर जब तक इन क्षणिक आवेशों में हमें इस प्रकार का भ्रम होता रहेगा, तब तक हमारी आत्मा की वह सतत यथार्थ पिपासा जाग्रत नहीं होगी और हमें 'शक्तिदाता' (गुरु) प्राप्त न होंगे।

अतः जब हमारे मन में यह शिकायत उठे कि हमें सत्य की प्राप्ति नहीं हुई है, यद्यपि हम उसकी प्राप्ति के लिए इतने व्याकुल हैं, उस समय हमारा प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि हम आत्म–निरीक्षण करें और पता लगायें कि क्या हमें वास्तव में उस (सत्य या धर्म) की पिपासा है ? अकसर तो यही दिखेगा कि हमीं उसके योग्य नहीं हैं, हमें धर्म की आवश्यकता ही नहीं है, हममें अभी आध्यात्मिक पिपासा ही नहीं है।

'शक्तिदाता' गुरु के लिए तो और भी अधिक कठिनाइयाँ होती हैं। बहुतेरे तो ऐसे हैं, जो स्वयं अज्ञान में डूबे रहने पर भी अपने अन्तःकरण में भरे अहंकार के कारण अपने को सर्वज्ञ समझते हैं। इतना ही नहीं, वे दूसरों का भार अपने कन्धे पर उठाना चाहते हैं और इस प्रकार 'अन्धा अन्धे को राह दिखावे' वाली कहावत चरितार्थ करते हुए अपने साथ उन्हें भी गड्ढे में ले गिरते हैं। संसार में ऐसों की ही भरमार है। हर कोई गुरु होना चाहता है, हर भिखारी लक्ष मुद्रा का दान करना चाहता है। जैसे ये भिखारी हँसी के पात्र हैं, वैसे ही ये गुरु भी।

तब प्रश्न यह है कि गुरु की पहिचान हमें कैसे हो ? सूर्य को दिखाने के लिए मशाल या दीपक की आवश्यकता नहीं होती। सूर्य को देखने के लिए हम मोमबत्ती नहीं जलाते। सूर्य का उदय होते ही उसके उदय होने का ज्ञान हमें स्वभावतः ही हो जाता है। उसी प्रकार जब हमें

सहायता देने के लिए किसी जगद्‌गुरु का आगमन होता है, तब आत्मा को अपने स्वभाव से ही ऐसा लगने लगता है कि उसे सत्य की प्राप्ति हो गयी। सत्य स्वयंसिद्ध होता है। उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। सत्य स्वयंप्रकाश होता है। वह हमारी प्रकृति की अन्तरतम गुहाओं तक को भेद देता है। और सारी सृष्टि चिल्ला उठती है, 'यही सत्य है।' महान् आचार्य ऐसे ही होते हैं। पर हम तो इनकी अपेक्षा छोटे आचार्यों से भी सहायता पा सकते हैं। किन्तु जिनके पास से हम दीक्षा लेना चाहते हैं या जिन्हें हम गुरु बनाना चाहते हैं, उनके विषय में ठीक या उचित राय कायम कर सकने के लिए पर्याप्त अन्तःशक्ति हममें बहुधा नहीं होती; इसलिए कुछ कसौटियों की आवश्यकता है। जिस प्रकार शिष्य में कुछ लक्षणों का रहना आवश्यक है, उसी प्रकार गुरु में भी कुछ लक्षण होने चाहिए।

पवित्रता, यथार्थ ज्ञान–पिपासा और धैर्य–ये लक्षण शिष्य में अवश्य हों। अपवित्र आत्मा कभी धार्मिक नहीं हो सकती। सबसे बड़ी आवश्यकता इसी पवित्रता की है। सब प्रकार की पवित्रता नितान्त आवश्यक है। दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि शिष्य को ज्ञान–प्राप्ति की यथार्थ पिपासा हो। प्रश्न यही है कि चाहता कौन है ? हम जो चाहते हैं, वही मिलता है, यह पुराना नियम है। जो चाहता है, वह पाता है। धर्म की चाह बड़ी कठिन बात है। इसे हम साधारणतः जितना सरल समझते हैं, उतना सरल नहीं है। फिर हम यह तो सदा भूल ही जाते हैं कि व्याख्यान सुनना या पुस्तकें पढ़ना धर्म नहीं है। धर्म तो एक सतत संघर्ष है। स्वयं अपनी प्रकृति का दमन करते रहना; जब तक उस पर विजय प्राप्त न हो जाय, तब तक निरन्तर लड़ते रहने का नाम धर्म है। यह एक या दो दिन, कुछ वर्षों या जन्मों का प्रश्न नहीं है। इसमें तो सैकड़ों जन्म बीत जायें, तो भी हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सम्भव है, हमें अपनी प्रकृति पर तुरन्त विजय मिल जाय; या सम्भव है, सैकड़ों जन्म तक हमें यह विजय प्राप्त न हो; पर हमें उसके लिए तैयार रहना आवश्यक है। जो शिष्य इस भावना के साथ अग्रसर होता है, उसको सफलता मिलती है।

गुरु में पहले तो हमें यह देखना चाहिए कि वह शास्त्रों के मर्म को जानता हो। सारा संसार बाइबिल, वेद, कुरान आदि आदि धर्म–शास्त्रों को पढ़ता है, पर ये सब तो केवल शब्द, बाह्य विन्यास, वाक्य–रचना, शब्द–रचना और भाषाविज्ञान ही हैं, धर्म की सूखी, नीरस अस्थियाँ मात्र गुरु चाहे किसी ग्रन्थ का काल–निर्णय कर ले, पर शब्द तो वस्तुओं का बाहरी रूप मात्र है। जो शब्द की ही उलझन में अधिक पड़े रहते हैं और अपने मन को शब्दों की शक्ति में ही दौड़ाया करते हैं, वे भाव को खो बैठते हैं। इसीलिए गुरु को धर्म शास्त्रों के मर्म को जानना आवश्यक है। शब्दों का जाल गहन अरण्य के समान है, जहाँ मनुष्य का मन भटक जाता है और बाहर निकलने का मार्ग नहीं पाता। 'शब्द–योजना की विभिन्न रीतियाँ, सुन्दर भाषा बोलने की विभिन्न शैलियाँ, शास्त्रों के अर्थ समझाने के अनेक रूप–ये सब विद्वानों के आनन्द–भोग की वस्तुएँ हैं; इनसे किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती।'

जो लोग इन सबका प्रयोग करते हैं, वे तो अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिए ही ऐसा करते हैं, जिससे संसार उनकी स्तुति करे और यह जाने कि वे विद्वान् हैं। तुम देखोगे कि

संसार के किसी भी महान् आचार्य ने शास्त्र के वाक्यों के अनेक अर्थ नहीं किये, न शब्दों की खींचातानी का कोई प्रयत्न किया, न उन्होंने यह कहा कि इस शब्द का अर्थ अमुक है और इस शब्द तथा उस शब्द के बीच भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार का सम्बन्ध है। संसार में जितने महान् आचार्य हुए हैं, उनका चरित्र अध्ययन करो तो कोई भी ऐसा नहीं मिलेगा, जिसने इस मार्ग का अवलम्बन किया हो। फिर भी इन्हीं आचार्यों ने यथार्थ शिक्षा दी। और दूसरे लोगों ने, जिनके पास सिखाने को कुछ नहीं था, एक ही शब्द को ले लिया और उस पर तीन-तीन जिल्दों की पोथी रच डाली। मेरे गुरुदेव मुझसे कहा करते थे कि तुम ऐसे लोगों को क्या कहोगे जो आम के बाग में जाने पर पेड़ों की पत्तियाँ गिनने, पत्तों के रंग जाँचने, शाखाओं की मोटाई नापने तथा उनकी संख्या गिनने इत्यादि में लगे रहें, जब कि उनमें से केवल एक ही में आम खाने की बुद्धि हो। अतः पत्ते और शाखाओं की गिनती करना और टिप्पणी तैयार करना दूसरों के लिए छोड़ दो। इन सब कार्यों का महत्व अपने उपयुक्त स्थान में है, पर इस धार्मिक क्षेत्र में नहीं। ऐसी चेष्टा से मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकते। इन 'पत्ते गिनने वालों' में तुम्हें श्रेष्ठ धार्मिक शक्तिसम्पन्न मनुष्य कदापि नहीं मिल सकता। मनुष्य का सर्वोपरि उद्देश्य, सर्वश्रेष्ठ पराक्रम धर्म है, किन्तु उसके लिए 'पत्ते गिनने' की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि तुम ईसाई होना चाहते हो, तो यह जानना आवश्यक नहीं कि ईसा मसीह कहाँ पैदा हुए थे-जेरूसलेम में या बेथेलहम में; या उन्होंने 'शैलोपदेश' ठीक किस तारीख को सुनाया था; तुम्हें तो केवल उस 'शैलोपदेश' के अनुभव करने की आवश्यकता है। यह उपदेश किस समय दिया गया, इस विषय में दो हजार शब्द पढ़ने की जरूरत नहीं। वह सब तो विद्वानों के विलास के लिए है। उन्हें उसे भोगने दो। 'तथास्तु' कह दो और आओ, हम आम खायें।

दूसरी आवश्यकता यह है कि गुरु निष्पाप हों। इंग्लैण्ड में मुझसे एक मित्र पूछने लगे, "गुरु के व्यक्तित्व को हम क्यों देखें ? हमें तो उनके उपदेशों को ही विचार करके ग्रहण कर लेना चाहिए ?" नहीं, ऐसा ठीक नहीं। यदि कोई मनुष्य मुझे गतिशास्त्र, रसायन शास्त्र या कोई अन्य भौतिक विज्ञान सिखाना चाहता है, तब तो उस शिक्षक का आचरण चाहे जैसा भी हो, वह मुझे इन विषयों की शिक्षा दे सकता है, क्योंकि इन विषयों के सिखाने के लिए केवल बौद्धिक ज्ञान की ही आवश्यकता है। केवल बुद्धि-बल के द्वारा ही इन विषयों की शिक्षा दी जा सकती है, क्योंकि इन विषयों में, आत्मा की जरा सी भी उन्नति हुए बिना मनुष्य में बुद्धि की विराट् शक्ति का उत्पन्न होना सम्भव है। पर आध्यात्मिक विज्ञानों के सम्बन्ध में तो आदि से अन्त तक अपवित्र आत्मा में धर्म की ज्योति का होना असम्भव है। ऐसी आत्मा सिखलायेगी ही क्या ? वह तो कुछ जानती ही नहीं। पवित्रता ही आध्यात्मिक सत्य है। 'पवित्र हृदयवाले धन्य हैं, क्योंकि वे ही ईश्वर का दर्शन करेंगे।' इस एक वाक्य में सब धर्मों का निचोड़ है। यदि तुमने इतना ही जान लिया तो भूत काल में जो कुछ इस विषय में कहा गया है और भविष्य काल में जो कुछ कहा जा सकता है, उन सबका ज्ञान तुम्हें प्राप्त हो गया। तुम्हें और किसी ओर दृष्टिपात करने की जरूरत नहीं,

क्योंकि तुम्हें इस एक वाक्य में ही सारी आवश्यक सामग्री प्राप्त हो गयी। यदि संसार के सभी धर्म शास्त्र नष्ट हो जायें, तो अकेला यह वाक्य ही संसार का उद्धार कर सकेगा। आत्मा के पवित्र हुए बिना, ईश्वर का दर्शन, इस जगत् के परे की झाँकी कभी नहीं मिल सकती। इसीलिए आध्यात्मिकता का उपदेश करने वाले गुरु में पवित्रता का होना अनिवार्य है; पहले हमें यह देखना चाहिए कि वे (गुरु) 'क्या हैं', और तदुपरान्त वे 'क्या कहते हैं।' बौद्धिक विषयों के आचार्यों के पक्ष में यह बात आवश्यक नहीं है, वहाँ तो जो वे हैं, उसकी अपेक्षा जो वे कहते हैं, उसी को हम महत्व देते हैं। पर धार्मिक गुरु के विषय में हमें पहले और सर्वोपरि यह देख लेना चाहिए कि वे क्या हैं, और तभी उनके उपदेश का मूल्य है, क्योंकि वह तो संप्रेक्षण करने वाला होता है। यदि स्वयं गुरु में वह आध्यात्मिक शक्ति न हो, तो वह शिष्य में किसका संचार करेगा ? जैसा, यदि गर्मी पहुँचाने वाला पदार्थ स्वयं गर्म हो, तभी वह गर्मी के स्पंदन संप्रेषित कर सकेगा, अन्यथा नहीं। ठीक यही बात गुरु के उन मानस स्पंदनों के सम्बन्ध में सत्य है, जिन्हें वह शिष्य में संचरित करता है। प्रश्न संवाहन का है, केवल हमारी बौद्धिक क्षमताओं को उत्तेजित करने की बात नहीं है। कोई यथार्थ तथा प्रत्यक्ष शक्ति गुरु से निकलकर जाती है। और शिष्य के हृदय में पल्लवित होने लगती है। इसी कारण गुरु का सच्चा होना एक अनिवार्य आवश्यकता है।

तीसरी बात है उद्देश्य। हमें देखना चाहिए कि गुरु नाम, यश अथवा अन्य किसी ऐसे ही उद्देश्य से तो उपदेश नहीं देते, वरन् केवल प्रेम के निमित्त शिष्य के प्रति शुद्ध प्रेम से परिचालित होकर उपदेश देते हैं। क्योंकि केवल प्रेम के ही माध्यम द्वारा गुरु के शिष्य में आध्यात्मिक शक्तियों का संचार किया जा सकता है। अन्य किसी माध्यम द्वारा इन शक्तियों का संचार नहीं हो सकता। अर्थ–प्राप्ति या कीर्ति–लाभ आदि किसी अन्य उद्देश्य से प्रेरित होने पर संप्रेषण का माध्यम तत्काल नष्ट हो जाता है। अतः यह सब प्रेम द्वारा ही होना चाहिए। जिसने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, वही गुरु हो सकता है। जब तुमको गुरु में ये आवश्यक बातें मिल जायें, तो तुम निरापद हो, तुम्हें कोई डर नहीं। और यदि ये बातें गुरु में न हों, तो उनको स्वीकार करना बुद्धिमानी नहीं है। कारण, यदि वे सद्भाव का संचार नहीं कर सकते, तो कभी–कभी उनसे दुर्भाव के ही संचार होने का डर रहता है। इस बात के प्रति सजग रहना चाहिए। अतः स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि हम किसी भी ऐरे–गैरे से उपदेश नहीं ले सकते।

नदी–नालों और पत्थरों के प्रवचन करने की बात काव्यालंकार के रूप में तो ठीक हो सकती है, पर जिसके भीतर सत्य नहीं है, वह सत्य का अणु मात्र भी उपदेश नहीं कर सकता। नदी–नाले किसे प्रवचन देते हैं उसी मानव आत्मा को, जिसका जीवन–कमल पहले ही मुकुलित हो चुका है ? जब हृदय खुल जाता है, तब उसे नालों, पत्थरों से भी उपदेश प्राप्त हो सकता है, इन सबसे धार्मिक शिक्षा मिल सकती है। पर जो हृदय खुला नहीं है, उसे तो नाले और पत्थर के अतिरिक्त और कुछ दिखेगा ही नहीं। अन्धा आदमी अजायबघर भले ही चला जाय, पर उसके हाथ केवल आना और जाना ही लगेगा। यदि उसे कुछ देखना है, तो पहले उसकी आँखें खुलनी चाहिए।

धर्म की आँखों को खोलने वाला गुरु होता है। अतः गुरु के साथ हमारा सम्बन्ध पूर्वज और वंशज का होता है। गुरु धार्मिक पूर्वज और शिष्य उसका धार्मिक वंशज होता है। स्वाधीनता और स्वतन्त्रता की बातें चाहे जितनी अच्छी लगें, पर विनय, नम्रता, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास के बिना कोई धर्म नहीं रह सकता। यह उल्लेखनीय बात है कि जहाँ गुरु और शिष्य में ऐसे सम्बन्ध का अस्तित्व अब भी है, वहीं महान् आध्यात्मिक आत्माओं का विकास होता है, पर जहाँ उसे बहिष्कृत कर दिया गया है, वहाँ धर्म केवल एक दिल–बहलाव की वस्तु बन जाता है। उन सब राष्ट्रों और धर्मसंघों में, जहाँ गुरु और शिष्य में यह सम्बन्ध विद्यमान् नहीं है, आध्यात्मिकता प्रायः नहीं के बराबर रह जाती है। उस भावना के बिना आध्यात्मिकता कदापि नहीं आ सकती। वहाँ न तो कोई देने वाला–संचार करने वाला ही है और न ग्रहण करने वाला; क्योंकि वे सब स्वाधीन हैं। वे सीखेंगे किससे ? यदि वे सीखने आते हैं, तो असल में विद्या खरीदने आते हैं। हमें एक डॉलर का धर्म दो, क्या हम उसके लिए एक डॉलर खर्च नहीं कर सकते ? धर्म की प्राप्ति इस प्रकार नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक गुरु के द्वारा संप्रेषित जो ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है, उससे उच्चतर एवं पवित्र वस्तु और कुछ नहीं है। यदि मनुष्य पूर्ण योगी हो चुका है, तो वह स्वतः ही उसे प्राप्त हो जाता है। किन्तु पुस्तकों द्वारा तो उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। तुम दुनिया के चारों कोनों में–हिमालय, आल्प्स, काकेशस पर्वत अथवा गोबी या सहारा के मरुभूमि या समुद्र की तली में जाकर अपना सिर पटको, पर बिना गुरु मिले तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। गुरु को प्राप्त करो, बालकवत् उनकी सेवा करो, उनका प्रभाव ग्रहण करने के लिए अपना हृदय खोल दो, उनमें परमात्मा के व्यक्त रूप का दर्शन करो। गुरु को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति समझकर उनमें हमें अपना ध्यान केन्द्रीभूत कर देना चाहिए, और ज्यों–ज्यों उनमें हमारी यह ध्यान–शक्ति एकाग्र होगी, त्यों–त्यों गुरु के मानव रूप का चित्र विलीन हो जायेगा, मानव शरीर का लोप हो जायेगा और यथार्थ ईश्वर ही वहाँ शेष रह जायेगा। सत्य की ओर जो इस श्रद्धा और प्रेम से अग्रसर होते हैं, उनके प्रति सत्य के भगवान् परम पद्भुत वचन कहते हैं। 'अपने पैरों से जूते अलग कर दो, क्योंकि जिस जगह तुम खड़े हो वह स्थान पवित्र है; जिस स्थान में उस (भगवान्) का नाम लिया जाता है, वह स्थान पवित्र है; तब जो मनुष्य उसका नाम लेता है, वह कितना अधिक पवित्र होगा ! और जिस मनुष्य से आध्यात्मिक सत्यों की प्राप्ति होती है, उसके निकट हमें कितनी श्रद्धा और भक्ति के साथ पहुँचना उचित है ! इसी भाव से हमें शिक्षा ग्रहण करनी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे गुरु इस संसार में कम मिलते हैं, पर ऐसा भी नहीं है कि जगत् *उनसे बिल्कुल शून्य हो। जिस क्षण यह संसार ऐसे गुरुओं से रहित हो जायेगा, उसी क्षण इसका अन्त हो जायेगा, यह घोर नरक बनकर अड़ जायगा। ये गुरु ही मानव जीवन के सुन्दर तथा अनुपम पुष्प हैं, जो संसार को चला रहे हैं। जीवन के इन हृदयों के द्वारा व्यक्त शक्ति ही समाज की मर्यादाओं को सुरक्षित रखती है।*

***

अष्टांगयोग

लेखक—पं० श्रीसीतारामजी मिश्र

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।
(कस्यचनाभियुक्तस्य)

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं ।
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।
यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते।
अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा।।
तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम्।
एतज् ज्ञानञ्च ध्यानञ्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः।।

इत्यादि श्रुति-प्रमाणों से और—

मुक्तियोगात्तथा योगात् सम्यग्ज्ञानं महीयते।
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

इत्यादि स्मृति-प्रमाणों से योग की महत्ता साधुतया सिद्ध हो जाती है। योग साक्षात् मोक्ष का कारण न होने पर भी साक्षात् मोक्षकारण ज्ञान का कारण है, अतः जब तक साधक योग-शास्त्र के अनुसार आचरण करके योगी नहीं हो जाता है, तब तक उसके पास ज्ञान आता ही नहीं। सारांश यह है कि मुक्त होने के लिये जिस तरह ज्ञान की आवश्यकता है, उसी तरह ज्ञानी होने के लिये योग की आवश्यकता है। शास्त्रों में लिखा है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यच्चोक्तं व्यासकोटिभिः।
ममेति मूलं दुःखस्य न ममेति च निर्वृतिः।।
निर्ममत्वं विरागाय वैराग्याद् योगसंगतिः।
योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते।।

अर्थात् 'जो बात व्यासजी ने करोड़ों श्लोकों में समझायी है, वही बात मैं तुम्हें आधे श्लोक से समझाता हूँ। 'ममत्व' जो है वही दुःख का मूल है, और निर्ममत्व से वैराग्य होता है, वैराग्य से योग की प्राप्ति होती है।' अतः यह स्पष्ट है कि मुमुक्षु के लिये योग का साधन कितना आवश्यक कर्तव्य है। अब हमें इस पर विचार करना है कि योग का क्या स्वरूप है, और उसका क्या लक्षण है। योग का लक्षण करते हुए भगवान पतञ्जलि ने योगसूत्र में कहा है कि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

अर्थात् 'चित्त की वृत्तियों को रोकना योग कहलाता है।' चित्त की पाँच अवस्थाएँ शास्त्रों में वर्णित हैं—(१) क्षिप्तावस्था, (२) मूढ़ावस्था, (३) विक्षिप्तावस्था, (४) एकाग्रावस्था और (५) निरोध अवस्था। चित्त सत्त्वगुणप्रधान होकर भी अप्रधान रजोगुण और तमोगुण से संयुक्त रहने के कारण अणिमादि आठ ऐश्वर्यों और शब्द आदि पाँच विषयों में जब अनुरक्त रहता है, तब उसकी क्षिप्तावस्था समझी जाती है। दैत्य और दानवों का चित्त इसी क्षिप्तावस्था में रहा करता है। वही सत्वप्रधान चित्त जब रजोगुण को तिरस्कृत करके तमोगुण के द्वारा अनुविद्ध रहता है, और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य और निद्रा आदि चाहने लग जाता है, तब उसे मूढ़ावस्था कहते हैं। पिशाच और राक्षसों का चित्त इसी मूढ़ावस्था में स्थित है। वही सत्व प्रधान चित्त जब तमोगुण को तिरस्कृत करके रजोगुण से सम्बद्ध रहने के कारण धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्रिय समझने लग जाता है, तब उसकी विक्षिप्तावस्था होती है। हिरण्यगर्भ आदि देवताओं का चित्त इसी विक्षिप्तावस्था में

रहता है। जब चित्त में रजोगुण और तमोगुण अंशतः भी नहीं रहते, केवल सत्वगुण ही रहता है, उस समय चित्त अपनी वास्तविक अवस्था में रहता है। यही चित्त की एकाग्रावस्था है। इसी को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। विवेक–ख्याति भी योगशास्त्र में इसी की संज्ञा है। जब चित्त यह समझकर कि चिति–शक्ति अपरिमाणिनी, शुद्ध और अनन्त है, और विवेक–ख्याति परिणामिनी, अशुद्ध और सान्त है, उसमें विराग करके उस विवेक–ख्याति को भी रोक देता है, तब चित्त की निरोधावस्था हो जाती है। इसमें चित्त का स्वरूप कुछ भी नहीं रहता। इसलिये इसे योगीजन निर्बीज समाधि कहते हैं। इन पाँचों चित्त की अवस्थाओं में से अन्तिम दो अवस्थाओं में ही अपेक्षित चित्तवृत्तिनिरोध का अर्थ न तो सम्पूर्ण चित्त–वृत्तियों का रोकना है और न यत्किञ्चित् वृत्तियों का अवरोध ही है। यदि पहला अर्थ मान लिया जाय तो सम्प्रज्ञात समाधि से सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध नहीं होता, किन्तु सत्वगुण के रहने से उसकी वृत्तियाँ उसमें वर्तमान ही रहती हैं। यदि दूसरा **'यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोध'** (चित्त की कुछेक वृत्तियों का रोकना) अर्थ करें तो यत्किञ्चिद्वृत्ति निरोध तो चित्त को क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ अवस्थाओं में भी होता है, अतः ये अवस्थाएँ भी योग के अन्तर्गत हो सकेंगी, फलतः अतिव्याप्तिदोष आ जायेगा। अतः अव्याप्ति और अतिव्याप्तिदोष हटाने के हेतु हमें यह लक्षण करना पड़ेगा कि, **'क्लेशकर्मादिपरिपन्थि चित्तवृत्तिनिरोधो योगः'** अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध ऐसा होना चाहिये जो क्लेश कर्म आदि का परिपन्थी हो, शत्रु हो, निवारक हो। अब देखिये कहीं भी कोई दोष नहीं आता है, न तो सम्प्रज्ञात–समाधि में अव्याप्ति ही आती है और न क्षिप्त, विक्षिप्त आदि चित्त की तीनों अवस्थाओं में अति व्याप्ति ही। सम्प्रज्ञात समाधि में जो चित्तवृत्तिनिरोध होता है, वह क्लेश और कर्म आदि का निवारक ही होता है, अतः उसमें लक्षणसमन्वय हो गया। उक्त तीन चित्तावस्थाओं में यत्किञ्चित् चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर भी क्लेश और कर्म आदि का परिपन्थी नहीं है, उनमें अविद्या, अस्मिता आदि पाँच क्लेश और कर्म वर्तमान ही रहते हैं, अतः उनमें यह लक्षण नहीं जा सकता। इसलिए हमें योगी की यही परिभाषा समझनी चाहिये–

क्लेशकर्मादिपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगलक्षणम्।

अर्थात् क्लेशकर्मादि का निवारक चित्त वृत्तिनिरोध ही योग है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

'तब द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान होता है।'

इस सूत्र की एकवाक्यता करने से उपर्युक्त सूत्र का यही अर्थ निर्दुष्ट प्रतीत होता है।

योग के स्वरूप की विवेचना हो चुकी, अब हमें उसकी प्राप्ति के उपायों का विचार करना चाहिये। पातञ्जलयोग दर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने तीन तरह के अधिकारियों के लिये तीन तरह के साधन बतलाये हैं। उत्तम अधिकारी के लिये उत्तम साधन बतलाया है, मध्यम के लिये मध्यम और अधम के लिये अधम। उत्तम अधिकार के लिये–

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

'अभ्यास और वैराग्य से चित्त का निरोध होता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

'अथवा ईश्वरार्पणबुद्धि रखने से'—इत्यादि सूत्रों से अभ्यास, वैराग्य और ईश्वर–प्रणिधान आदि साधन बतलाये हैं। मध्यम के लिये—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

'तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ही क्रियायोग है।' इस सूत्र से तपस्, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि मध्यम बतलाये हैं। और अधम अधिकारियों के लिये—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।

इस सूत्र से यम, नियम, आसन आदि आठ साधन प्रतिपादित किये हैं। कोई भी सर्वप्रथम उत्तम या मध्यम अधिकारी नहीं हो सकता। प्राथमिक साधनों को सम्पादित करके ही साधक मध्यम और उत्तम साधनों को साध सकता है। इसलिये और प्रकरणवशतः योग के उत्तम और मध्यम साधना के विषय में विशद विवेचन न कर उसके आठ प्राथमिक साधनों पर ही कुछ विचार किया जाता है। इन्हीं प्राथमिक साधनों को अष्टांगयोग नाम से शास्त्रों में प्रतिपाति किया है। इनके अनुष्ठान से चित्त की अशुद्धता दूर होकर धीरे–धीरे ज्ञान का विकास होता रहता है, और अन्त में विवेक–ख्याति की प्राप्ति हो जाती है।

योगांगनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः।

ये साधन आठ तरह के हैं—१ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान ८ समाधि।

१—यम

ये पाँच प्रकार के हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, ५ अपरिग्रह—ये पाँच यम कहलाते हैं।

(१) अहिंसा—मनसा, वाचा, कर्मणा कभी किसी प्राणी के साथ द्रोह न करना अहिंसा है। यह यम, नियम आदि साधनों की आधार–शिला है। अहिंसा की यथाविधि परिपालना किये बिना यदि अगले साधनों का अनुष्ठान किया जाय, तो उनका कुछ फल नहीं होता, वे निष्फल हैं। अहिंसा की सिद्धि के लिये ही वे साधित किये जाते हैं। यम, नियम आदि का अनुष्ठान न करने से कहीं अहिंसा मलिन न हो जाय, इसीलिये उनके अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। **(२) सत्य**—अपनी देखी–सुनी या जानी हुई बात दूसरे को जनाने के लिये ऐसे वाक्यों का प्रयोग करना कि जिनमें किसी प्रकार की वंजना, भ्रान्तिजन्यता और निर्थकता न हो, सत्य कहलाता है। सत्य के इस परिपालन में एक धारा और भी लगी हुई है—वह यह कि कोई सत्य भी यदि किसी का अहित कर्ता हुआ तो बस, वह सत्यपद से च्युत हो जाता है। अतः हित और यथार्थ वचन सत्य कहलाता है। **(३) अस्तेय**—चोरी न करना अस्तेय है। शास्त्रविरुद्ध किसी दूसरे का धन ले लेना चोरी कहलाता है। अस्तेय भी केवल कर्मणा ही न साधा जाय। किन्तु मनसा साधा जाय। अतः दूसरे शब्द में हम इसे अस्पृहा कह सकते हैं। **(४) ब्रह्मचर्य**—आठ प्रकार के मैथुनों का सर्वथा त्याग ही ब्रह्मचर्य है। अष्टमैथुन दक्ष–संहिता में यों गिनाये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।।
एतन्मैथुनमष्टांग प्रवदन्ति मनीषिणः।।

१ स्मरण, २ कीर्तन, ३ हँसी–मजाक, ४

रागपूर्वक दर्शन, ५ एकान्त में वार्तालाप, ६ संकल्प, ७ मैथुन करने का प्रयत्न, ७ स्वलपतः मैथुन ये आठ प्रकार के मैथुन विद्वानों ने कहे हैं। (५) अपरिग्रह—विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, संग, हिंसा आदि दोष देखकर उनको सर्वथा छोड़ देना अपरिग्रह है। विषयों के रक्षण, अर्जन और नाश में जो कष्ट होता है, वह स्पष्ट है। जैसे-जैसे विषयों का भोग किया जाता है वैसे-वैसे उनमें आसक्ति बढ़ती ही जाती है। यह संगदोष है। बिना किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाये विषयोपभोग हो ही नहीं सकता। अतः उसमें हिंसादोष भी रहता है।

२—नियम

नियम भी पाँच प्रकार के है (१) शौच, (२) सन्तोष, (३) तपस्, (४) स्वाध्याय, (५) ईश्वर-प्रणिधान। (१) **शौच**—पवित्रता का नाम शौच है। वह दो प्रकार का है—बाह्य शौच और दूसरा आभ्यन्तर शौच। बाह्य शौच स्थूल शरीर को मृत्तिका, जल आदि से क्षालन करने से, गोमूत्र गोमय आदि शुद्ध सात्विक पदार्थ खाने से और उपवास करने से उत्पन्न होता है। बाह्य साधनों से होने वाला बाह्य शौच कहलाता हैं। सत्त्वस्वभाव चित्त के काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि मलों को मैत्री, करुणा आदि उपायों से दूर करना—चित्त को अपने वास्तविक रूप में लाना—उसे निर्मल करना— आभ्यन्तर शौच है। (२) **सन्तोष**—जीवन-निर्वाहोपयुक्त वस्तुओं के सिवा किसी भी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा न रखना सन्तोष कहलाता है। (३) **तपस्**—द्वन्द्वों को द्वेष-रहित होकर सहन करना तपस् है; शीत-उष्ण, भूख-प्यास, उठना-बैठना आदि द्वन्द्व कहलाते हैं। इन द्वन्द्वों को शास्त्रोक्त व्रतों के द्वारा ही सहन करना चाहिये। इसके लिये चान्द्रायण, कृच्छ्र चान्द्रायण, और सान्तपन आदि व्रत शास्त्रों में बताये हैं। (४) **स्वाध्याय**-मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन अथवा प्रणव—मन्त्र या भगवन्नाम का जप करना स्वाध्याय है। (५) **ईश्वर-प्रणिधान**—सम्पूर्ण कर्मों को परम गुरु ईश्वर को अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान है। इन पूर्वोक्त ५ नियमों में ईश्वरप्रणि धान (सब कर्मों को भगवदर्पण कर देना) परम प्रमुख नियम है; क्योंकि यही अभीप्सित मनोरथ के सिद्ध करने में अपूर्व शक्ति रखता है, और अपने मार्ग के कष्टकों को छिन्न-भिन्न करने में बड़ा ही सिद्धहस्त है। शास्त्रों में लिखा है—

> **शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा**
> **स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।**
> **संसारबीजक्षयमीक्षमाणः**
> **स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी।।**

अर्थात् परम पुरुष परमात्मा में समग्र कर्मों को अर्पण करने वाला साधक ईश्वर की कृपा से सोते, बैठते, चलते सदा ही योगयुक्त रहता है, उसके हिंसा आदि वितर्कजाल बिना ही प्रतिपक्ष-भावना के परिक्षीण हो जाते हैं, दिन-पर-दिन उसके जन्महेतु वासना आदि नष्ट होते रहते हैं, और वह परमात्मनिष्ठ मनुष्य अन्त में जीवन्मुक्ति के सुख का अनुभव करने लग जाता है। इन यम और नियमों का बिना इनमें किसी तरह की संकोचकल्पना किये निरवच्छिन्न रूप से साधन करना श्रेयसकर है। निरवच्छिन्न होकर ही ये महाव्रत रूप में परिणत होकर सार्वभौम कहलाने लगते हैं। और तभी इनका परम फल प्राप्त होता है यदि लोभ, मोह,

क्रोध आदि के कारण कभी इन यम–नियमों के प्रतिकूल भावना उठे, वितर्क–जाल बार–बार सामने आने लग जाय तब साधक को धैर्यपूर्वक यह विचार–धारा अपने हृदय क्षेत्र में प्रवाहित करनी चाहिये–दुनिया की धधकती हुई इस भीषण भट्टी में झुलसते हुए मैंने जब तंग होकर योग–धर्म–की शरण ले ली और यम, नियम आदि साधनों का अनुष्ठान करने में लग गया, तो फिर वही मैं छोड़े हुए इन भ्रष्ट कर्मों को फिर करूँगा ? वमन में फेंके हुए उच्छिष्ट अन्न को कुत्ते की तरह फिर भक्षण करूँगा ? कभी नहीं। मुझे तो **'अंकीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति'**–पुण्यात्मा अंकीकृत कार्य को निबाहते हैं, कभी छोड़ते नहीं–इसी नियम का अनुसरण करना चाहिये। इस विचारधारा से उस वितर्क जाल को साधक हटाने की चेष्टा करे तो उसे अवश्य सफलता प्राप्त हो सकती है।

जब ये यम और नियम साधुतया सिद्ध हो जाते हैं, साधन में किसी तरह की भी त्रुटि नहीं रहती, जब हजारों विघ्न–बाधाओं के आने पर भी साधक अपने स्वीकृत मार्ग से नहीं स्खलित होता, तब उसे उन साधनों की सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। पातंजल योगदर्शन में इनका वर्णन किया गया है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

अर्थात् अहिंसा की स्थिरता होने पर साधक के समीप रहने वाले जीवों में स्वाभाविक वैर भी क्षीण हो जाता है। अहिंसा प्रतिष्ठित उस महानुभाव के समीप रहने से ही चूहा–बिल्ली, घोड़ा–भैंसा, साँप–नेवला आदि परस्परविरोधी जानवर भी अपने स्वाभाविक वैर तक को तिलांजलि दे डालते हैं। उसके पास रहने वाले किसी भी जीव में वैरभाव सर्वथा विलुप्त हो जाता है। सत्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक अमोघवाक् हो जाता है; जो बात कह देता है, वही लोहे की लकीर हो जाती है। **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।'** इसी तरह अस्तेयप्रतिष्ठा से सर्वरत्नों की उपस्थिति, **'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।'** ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठा से वीर्य प्राप्ति– ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठा से भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की बातों की हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीति होती है। **'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।'** ये तो हुई यमों की सिद्धियाँ। अब नियमों की सिद्धियों की तरफ ध्यान दीजिये। बाह्य शौच की प्रतिष्ठा होने पर अपने अंगों में उसे पवित्रता के विरुद्ध बहुत से दोष दीखने लग जाते हैं। अर्थात् ज्यों–ज्यों साधक अपने शरीर को मिट्टी, जल, गोमय, गोमूत्र आदि पवित्र बाह्य साधनों से पवित्र करता है त्यों–त्यों उसे देह की अति अपवित्रता अधिक प्रतीत होने लगती है। उसे यह निश्चय हो जाता है कि शरीर कभी पवित्र ही नहीं होता। अतः वह शरीर में आसक्ति छोड़ देता है। जब उसे अपने शरीर की यह अवस्था देखकर ऐसी विरक्ति हो जाती है, तब फिर दूसरों के अत्यन्त अपवित्रत देहों से वह कैसे सम्पर्क रख सकता है ? आन्तरिक शौच की प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर जब चित्त के काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मल दूर हो जाते हैं, तब धुले हुए वस्त्र की तरह चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है, उस समय चित्त केवल अपने रूप में ही निविष्ट रहता है। इस प्रकार एकाग्र होकर इन्द्रियों को अपने अधीन करके वह आत्मा के दर्शन की योग्यता प्राप्त कर लेता है–

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयात्मदर्शन योग्य त्वानि च।

'शौच से अपने शरीर के प्रति घृणा, अन्य शरीरों से असंसर्ग, चित्त की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता होती है।' सन्तोष की प्रतिष्ठा होने से अनुत्तम (जिससे उत्तम कोई नहीं है) सुख का लाभ होता है। शास्त्रों में लिखा है–

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशी कलाम्।।

अर्थात् 'सांसारिक और स्वर्गीय दोनों सुख ही तुलना में सन्तोष–सुख के सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं हो सकते।' महाभारत के आदि पर्व में अपने पितृ–भक्त पुत्र पुरु को उसकी जवानी वापस लौटाते हुए राजा ययाति ने कहा है–

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्।
तां तृष्णां सन्त्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते।।

अर्थात् जो दुर्बुद्धि मनुष्यों से बहुत कठिनता से छूटती है, जो अपने आश्रय–दाता के वृद्ध होने पर भी वृद्ध नहीं होती, (कम नहीं होती), ऐसी तृष्णा को छोड़ने वाला बुद्धिमान् मनुष्य सदा सुखसमुद्र में निमग्न हुआ रहता है। **'सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः।'** 'सन्तोष से' ऐसा **'अनुत्तम सुखलाभ'** होता है। तपस् की सिद्धि होने पर अशुद्धता नष्ट होने से अणिमादि-आठ काय सिद्धियाँ और दूर से सुनना देखना, आदि इन्द्रिय–सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसी तरह स्वाध्याय–प्रतिष्ठा से इष्ट देवताओं का दर्शन और ईश्वर–प्रणिधान–स्थैर्य से समाधि की सिद्धि हो जाती है जिससे वह साधक परोक्ष देश, काल और स्थान की सभी बातें यथार्थ रूप से जान लेता है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः

'तप से अशुद्धि का क्षय होने पर कायेन्द्रियसिद्धि होती है।'

स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः।

'स्वाध्याय से इष्टदेवता के दर्शन होते हैं'

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

'ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है।'

३–आसन

जिस तरीके से साधक सुखपूर्वक स्थिरता से बैठ सके, उसका नाम आसन है। आसन अनेक प्रकार के हैं। संक्षेपतः संसार में जितने जीव हैं, उनके बैठने के जितने प्रकार हैं, उतने ही आसन हो सकते हैं। पद्मासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, दण्डासन, मयूरासन आदि प्रसिद्ध आसन हैं। इनका पृथक्–पृथक स्वरूप–विवेचन **'लेखविस्तरभिया'** यहाँ नहीं किया जा सकता। वस्तुतः यह एक स्वतन्त्र लेखन का विषय है। आसन तभी सिद्ध होता है, जब साधक के स्वाभाविक प्रयत्न शिथिल पड़ जाते हैं। स्वाभाविक प्रयत्नों के रहते यदि आसन साधा जाय, तो वह न सध सकेगा, उस अवस्था में साधक के अंगों में कम्पन होने लगेगा। अथवा भगवान् शेषनागर पर चित्त के लगाने से आसन की सिद्धि हो सकती है। आसन–प्रतिष्ठित पुरुष को गर्मी–जाड़ा, भूख–प्यास आदि द्वन्द्व नहीं सता सकते। इन्हें वह अपने अधीन कर लेता है।

४–प्राणायाम

शास्त्रोक्त विधि से अपने स्वाभाविक श्वास और प्रश्वासों को रोक लेना प्राणायाम कहलाता

है। बाहर के वायु का नासिका के द्वारा जो अन्तःप्रवेश होता है, उसे श्वास कहते है, और भीतर का वायु जो बाहर नकिलता है उसे प्रश्वास कहते हैं। इन श्वास और प्रश्वास की गति का शास्त्रोक्तरीत्या अवरोध ही प्राणायाम है। प्राणायाम के तीन भेद हैं–१ **पूरक, २ कुम्भक और ३ रेचक**। जिस प्राणायाम में श्वास के द्वारा स्वाभाविक गति में अवरोध होता है, उसे पूरक, जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनों ही नहीं रहते, उसे कुम्भक और जिसमें प्रश्वास के द्वारा स्वाभाविक गति में रुकावट डाली जाती है, उसे रेचक कहते हैं। आरम्भ में इन तीनों का एक साथ ही क्रमशः अनुष्ठान करना चाहिये। अतएव मिले हुए इन तीनों का नाम प्राणायाम शास्त्रों में प्रतिपादित है, अर्थात् इनका समुदाय प्राणायाम नाम से वर्णित किया गया है–'**प्राणायामस्तु विज्ञेयो रेचपूरककुम्भकैः**'–साधन में जब परिपक्वता आ जाय तब इनमें से केवल कुम्भक का साधन भी शास्त्रों में वर्णित है, इसे चतुर्थ प्राणायाम भी कहते हैं–

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः सर्वैः केवलकुम्भकः।।

केवल कुम्भक बड़ा ही कठिन है, जब पूर्व प्राथमिक प्राणायामों में साधक साधुतया प्रवीण हो जाता है तभी यह सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसके साधन में सफलता प्राप्त करने वाले साधक के लिये त्रिलोक की कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रहती।

केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।।

(वसिष्ठसंहिता)

प्राणायाम के अभ्यास से संसार को स्थायी बनाने वाला रागरूपी महामोह शनैः शनैः दुर्बल होने लग जाता है और मन धारणा में निविष्ट होने के लिये सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। मनु महाराजने कहा है–

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य संक्षयात्।।

अर्थात् जिस तरह सुवर्ण आदि धातुओं को अग्नि में तपाने से उनका मल (मैल) दूर हो जाता है, उसी तरह प्राणों को रोकने से (प्राणायाम से) इन्द्रियों के दोष भी दग्ध हो जाते हैं।

तपो न परं प्राणायामात्ततो शुद्धिर्मलानां
दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।

अर्थात् प्राणायाम के बराबर दूसरा कोई तप नहीं है, उससे दोषों की शुद्धि और ज्ञान की दीप्ति होती है। प्राणायाम बड़ा ही उत्तम साधन है।

५–प्रत्याहार

जब इन्द्रियाँ विषयों से सम्बद्ध नहीं रहती, उस समय उनका चित्त के स्वरूप का सा अनुकरण करना–चित्त की सी तरह रहना–सब कामों में चित्त की राह देखना प्रत्याहार कहलाता है। जितेन्द्रिय मनुष्य की चक्षु आदि इन्द्रियाँ ध्येय वस्तु में परिणत चित्त के सदृश हो जाती हैं, स्वतन्त्र रूप से वे मन से मिलकर दूसरे–दूसरे विषयों का चिन्तन नहीं करतीं। चित्त के निरुद्ध होते ही वे स्वयं बिना परिश्रम निरुद्ध होने लगती हैं। अतः वे उस समय चित्तानुकारिणी समझी जाती हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ चित्त की अपेक्षा रखती हैं और जिन–जिन कामों में चित्त प्रवृत्त होता है, उन उन्हीं में इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती रहती हैं। मक्खियाँ जिस तरह भ्रमरराज के पीछे–पीछे रहकर उसके उड़ने पर उड़ती और जहाँ वह

घुसता है, वहाँ घुस जाती है, उसी तरह जितेन्द्रिय मनुष्य की इन्द्रियाँ भी चित्त के पीछे दीवानी होकर उसी में अपना अस्तित्व तक भी अन्त में नष्ट कर डालती हैं। अजितेन्द्रियों की इन्द्रियाँ भी चित्त के पीछे दीवानी होकर उसी में अपना अस्तित्व तक भी अन्त में नष्ट कर डालती हैं। अजितेन्द्रियों की इन्द्रियाँ तो चित्त के निरोधोन्मुख होने पर भी स्वतन्त्ररूप से रूप, रस आदि अपने–अपने विषयों में संचरण करती रहती हैं, और अन्त में चित्त को अपना अनुकरण करने के लिये लाचार बना देती हैं। अतः विषयासम्प्रयोग काल में (जब इन्द्रियाँ विषयों से सम्बद्ध नहीं रहतीं) इन्द्रियों का चित्तानुकरण प्रत्याहार कहलाता है। इस प्रत्याहार के साधन से इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं, और वास्तविक जितेन्द्रियत्व भी इसी प्रत्याहार के साधने से उपलब्ध होता है। विष्णुपुराण में प्रयोजनसहित प्रत्याहार का इस तरह वर्णन मिलता है–

शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः।।
वश्यता परमा तेन जायते निष्कलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः।।

अर्थात् 'योग को जानने वाला मनुष्य प्रत्याहार परायण होकर शब्द आदि विषयों में लगी हुई इन्द्रियों को रोककर उन्हें चित्तानुकारिणी बना ले, इससे जितेन्द्रियता में दृढ़ता आ जाती है। इस दृढ़ता के बिना कोई भी योगसाधक योगी नहीं हो सकता।' इसी जितेन्द्रियता की कमी के कारण सौभरि आदि कई योगियों का योग भ्रष्ट हो गया था। इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश दिया है–

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

अर्थात् 'उन सब इन्द्रियों को वश में करके एकाग्रचित्त हो–मेरे परायण हो जाओ। जिस के इन्द्रियाँ वश में है, उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठित है। उसे लोग स्थित प्रज्ञ कहते हैं।'

६–धारणा

जो स्थान ध्येय का आश्रयभूत है, उस स्थान पर चित्त को एकाग्र करके लगा लेना धारणा है–

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।'

अर्थात् चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके ध्येय के आधार–स्थान पर लगा लेना धारणा है। वृत्तियाँ दश स्थानों पर लगायी जाती है, अतः वे दस प्रकार की है–

प्राङ् नाभ्यां हृदये चाथ तृतीये च तथोरसि।
कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्धसु।।
किञ्चित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दश कीर्तिताः।।

(गरुडपुराण)

अर्थात् 'आरम्भ में धारणा नाभि में की जाती है, पीछे क्रमशः हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ, मुख, नासिकाग्र, नेत्र, भ्रूमध्य, मूर्धस्थान आदि में। सब मिलाकर दशविध धारणा कही गयी है। इसमें केवल चित्त की वृत्तियाँ एकाग्र होकर ध्येय स्थान पर बाँधी जाती हैं, ध्येय से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता।

७–ध्यान

उसी स्थान पर (ध्येयाधार पर) ध्येय विष्णु आदि विषयक ज्ञान की एकतानता का नाम ध्यान है। अर्थात् ध्येय स्थान पर (जहाँ चित्त एकाग्रता से बाँधा गया है) ध्येयालम्बन प्रत्यय का (ध्येय सम्बन्धी ज्ञान का) दूसरे ज्ञानों के द्वारा

उसे अत्यन्त असम्पृक्त रखकर एक–सा लगातार प्रवाह रखना ध्यान है–

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

८–समाधि

ध्यान ही जब ध्येयाकाररूप से साक्षी में निर्भासित होने लगता है, चित्त के ध्येयस्वरूपाविष्ट हो जाने के कारण **'अहमिदं चिन्तयामि'** (मैं इसका चिन्तन करता हूँ) इत्यादि ज्ञानाकारक वृत्तियों का उदयन होने के कारण जब प्रत्ययात्मकस्वरूप से शून्य–सा हो जाता है, तब वही समाधि कहलाने लग जाता है। अर्थात् ध्यान की जब ध्येयाकार रूप से प्रतीत होने लग जाय, और ज्ञानाकार रूप से उसका अलग निर्भास न हो, तब ध्यान ही समाधि हो जाता है–

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान का अलग–अलग ज्ञान रहता है, और समाधि में इनका पृथक्–पृथक् भान नहीं रहता, केवल ध्येयाकार रूप से ही सबकी प्रतीति होती है। यही समाधि और ध्यान में विभिन्नता है। इस समाधि में थोड़ा–बहुत ध्यान का स्वरूप अवभासित होने के कारण पूरी तरह से ध्येय–स्वरूप नहीं भासित होता, किन्तु सम्प्रज्ञात समाधि में यह ध्येय स्वरूप पूरी तरह से भासित होने लगता है, ध्येय के सिवा इसमें कुछ भासित होता ही नहीं। यही सम्प्रज्ञात समाधि और प्रकृत समाधि में भेद है। इस प्रकृत समाधि की साधना में परिपक्वता आने से सम्प्रज्ञात समाधि और तदनन्तर असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा योगी ज्ञान प्राप्त करके अन्त में मुक्त हो जाता है।

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगी योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम्।।

'योग से ही योग जाना जाता है, योग से ही योग की प्रवृत्ति होती है। योग से जो अप्रमत्त (प्रमादरहित) होता है वही योग में सदा रमता है।'

***

भौतिक भोग के इस युग में योग का अवलम्बन ही करेगा आपका कल्याण
उत्तम और सफल जीवन की एकमात्र विश्वसनीय कुंजी है योग !
योग-पथ पर बढ़ने हेतु सिद्धयोग की शरण लीजिए
सिद्धयोग
पढ़िये–
पढ़ाइये !

योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री रामलाल प्रभवे नमः

योग मेरी है मेरा योग से भरा नहीं।
योग साधना के बिना कोई मुझे पाता नहीं।

श्री मदन मोहन गुरवे नमः

प्रभु श्री रामलाल संगीत महाविद्यालय

गणेश बाजार, झाँसी

द्वारा आयोजित

छब्बीसवाँ अखिल भारतीय योग एवं संगीत सम्मेलन

स्थान — पैवेलियन हॉल, श्री लक्ष्मी व्यायाम मन्दिर, झाँसी

दिनांक 7, 8, 9, एवं 10 नवम्बर 2002

परम कल्याण निकेतन सिद्ध पतित पावन योगीराज भगवान श्रीरामलाल प्रभु श्री महाराज (श्री सिद्ध गुफा ...) की असीम कृपा से प्रभु श्री रामलाल संगीत महाविद्यालय, झाँसी द्वारा 26 वाँ योग सम्मेलन आयोजित हो रहा है। योग सिद्धान्तों पर प्रवचन, ध्यान एवं समाधि के व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु आचार्य चन्द्रहास जी शर्मा (दिल्ली) सहित योग के अनेक तपोनिष्ठ विद्वान पधार रहे हैं। इस अवसर पर योगाभ्यासित संकीर्तन, एकाग्रता प्रदान करने वाले साधनों के अतिरिक्त शास्त्रीय संगीत प्रतियोगिताएँ एवं संगीत सम्मेलन भी उपरोक्त तिथियों में आयोजित है।

सभी आदरणीय भाई, बहन, श्रद्धालु, योग जिज्ञासु एवं धर्म प्रेमी महानुभावों से निवेदन है कि आयोजन में इष्ट मित्रों सहित भाग लेकर पुण्य लाभ लें एवं अपने जीवन को योगमय बनाएं।

कार्यक्रम

7,8,9,10 नवम्बर 2002	श्री प्रभुजी की आरती पूजन संकीर्तन	प्रातः 7 से 8.30 बजे तक सायं 7 से 8.30 बजे तक
7,8,9,10 नवम्बर 2002	योग सिद्धान्तों पर प्रवचन	प्रातः 8.30 से 10.30 बजे तक रात्रि 9.30 से 10.30 बजे तक
7, 8 नवम्बर 2002	बुन्देलखण्ड संगीत प्रतियोगिताएं	प्रातः 11 बजे से सायं 6 बजे तक
8 नवम्बर 2002	पारितोषिक वितरण	सायं 7 बजे
9, 10 नवम्बर 2002	अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन	दोपहर 2.30 से सायं 7 बजे तक
10 नवम्बर 2002	श्री प्रभुजी एवं गुरुदेव जी का पूजन	दोपहर 12 बजे
10 नवम्बर 2002	भण्डारा	दोपहर 1 बजे से 2.30 बजे तक

मंगला आरती प्रातः 5 बजे, आसन व्यायाम नेतिक्रिया प्रातः 6 बजे से 7 बजे तक

आयोजक :
डॉ० श्री हरिमोहन गुप्ता, अध्यक्ष
इंजी. सीताराम गुप्ता, महामंत्री
एवं समस्त सदस्य कार्यकारिणी समिति
प्रभु श्री रामलाल संगीत महाविद्यालय,
एवं योग साधना मण्डल, झाँसी

पत्र व्यवहार :
9, सिविल लाइन्स, झाँसी
फोन : 0517-330074

संयोजक
कृष्णकान्त श्री. प्राचार्य
प्रभु श्री रामलाल संगीत महाविद्यालय,
झाँसी

राष्ट्रीय ... एवं प्रिंटिंग प्रेस, झाँसी

जिज्ञासा

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् परांग पश्यति नान्तरात्मन्। (कठोपनिषद ३/२/१) अर्थात् स्वयम्भू परमेश्वर ने समस्त इन्द्रियों को बाहर की ओर जाने वाला बनाया है, इस कारण मनुष्य बाहर की वस्तुओं को ही देखता है। और अपने हृदय में स्थित अपनी आत्मा को नहीं देखता।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की है—(१) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—नाक, कान, आँख आदि जिनके द्वारा मनुष्य इस विश्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करता है। और (२) पाँच कर्मेन्द्रियाँ—हाथ, पाँव आदि जिनके द्वारा मनुष्य इस सृष्टि में कर्म करता है। ज्ञान और कर्म दोनों ही इस जीवन में साथ—साथ चलते हैं। आँखों से देखने, कानों से सुनने, नाक से सूँघने, जिह्वा से चखने तथा हाथ—पाँव से छूने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है। यह स्वाभाविक तीव्र इच्छा ही मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकास तथा उन्नति का कारण हुई है। मनुष्य की जिज्ञासा केवल शारीरिक और मानसिक सुख साधनों तक सीमित नहीं है। उसके मन में **"कस्त्वं कोऽहम्"** अर्थात मैं कौन हूँ ? सृष्टि क्या है ? इसका बनाने वाला कौन है ? इसका अंत कब होगा ? मैं भविष्य में रहूँगा या नहीं ? यह सृष्टि रहेगी या नहीं ? इससे पूर्व मेरा तथा सृष्टि का अस्तित्व था या नहीं ? संसार में सुख—दुःख क्यों देखने में आते हैं ? सच्चा सुख क्या है ? मनुष्य का प्रकृति के साथ क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि—इस प्रकार के अनेक, असंख्य प्रश्नों की जिज्ञासा बनी रहती है। यही सच्ची जिज्ञासा है और इन प्रश्नों का समाधान ही सच्चा ज्ञान है।

'मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये' हजारों में एक—दो ही पुरुष ऐसे होते है जो इस आध्यात्मिक बातों पर विचार करते है। जो इन प्रश्नों पर विचार नहीं करते वे सच्ची शांति से वंचित ही रहते हैं। वे तो खाओ—पीओ और मौज उड़ाओ के चक्कर से परे निकल नहीं पाते। ऐसे मनुष्यों को शास्त्र पशु समान बताते हैं। वे जीवन की इस वास्तविकता को नहीं जानते—**"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः"**। जीवन अल्प है, इसको भोग—विलास में मूर्ख लोग ही व्यतीत करते है और इन क्षणिक पदार्थों पर घमण्ड करके दूसरों की अवज्ञा करते हैं, दूसरों को कष्ट पहुँचाते है। इस राक्षसी प्रवृत्ति को दबाने का केवल एक ही उपाय है और वह है धर्म एवं ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा।

इस प्रकार की धार्मिक जिज्ञासा ही सच्चे ज्ञान तथा आत्मदर्शन की जननी है। इस जिज्ञासा के कारण ही धार्मिक ग्रन्थों का विकास हुआ है, जो मनुष्य को मानवता का दर्शन कराते हैं। इसके लिए तपश्चर्या का जीवन आवश्यक है। आत्म—सुधार, सद्व्यवहार और उच्च विचारों के लिए तीव्र उत्कण्ठा, तीव्र जिज्ञासा की आवश्यकता है।

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER
BOOK-POST

श्री Jaya Karan Agrawal, Khoradia Bhawan, Lower Rajwari Road, JHARIA (Jh.K.) 828 111

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा। शरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्।
वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युर्धर्माविरोधिनः। शममध्ययनं चैव सुखमेवं समश्नुते।।

अर्थात्, जैसे नगर का स्वामी नगर की रक्षा में और सारथी रथ की रक्षा में तत्पर रहता है, वैसे ही बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि वह शरीर की रक्षा के कार्यों में तत्पर रहे। अपनी जीविका को चलाने के लिए उन्हीं कार्यों को करे, जो धर्म विरुद्ध न हो। जो मनुष्य शांत रहते हुए सद्ग्रन्थों का अध्ययन और उनमें बताए गये सत्कर्मों को करता है, वह सुख प्राप्त करता है।

प्रकाशक एवं मुद्रक :- विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326
सम्पादक—आचार्य ब्र० (डा.) दामलाल शर्मा